मुद्रक तथा प्रकाशक—
घनश्यामदास जालान,
गीताप्रेस, गोरखपुर।

सं० १९९५
प्रथम संस्करण ५,२५०
मू० ।=) छः आना

पता—
गीताप्रेस, गोरखपुर

निवेदन

पूज्य महाराजजी श्रीउड़ियास्वामीजीके उपदेश समय-समयपर उनके सत्संगियोंकी कृपासे प्राप्त होते रहे हैं और कल्याणमें प्रकाशित होते रहे हैं। इन्हींको श्रीमुनिलालजीने सम्पादित कर पुस्तकाकार कर दिया है। इसमें उपासनाकाण्ड और ज्ञानकाण्ड दो खण्ड हैं।

यह संग्रह बहुत अच्छा है। इसका अक्षर-अक्षर ग्राह्य है। इसके प्रचारसे लोगोंको बहुत अच्छा लाभ मिलनेकी सम्भावना है। पुस्तक सब प्रकारसे उपादेय और सुन्दर भावोंसे समन्वित है।

—प्रकाशक

श्रीहरिः

विषय-सूची

उपासनाखण्ड

ज्ञानखण्ड

चित्रसूची

उपासनाखण्ड

श्रीभगवान् और उनकी ह्लादिनी शक्ति श्रीराधाजी

श्रीउड़ियास्वामीजीके उपदेश

भजनके विषयमें

प्रश्न—भजनीय तत्त्व क्या है ?

उत्तर—भजनीय तत्त्व भगवान् हैं। वे साकार-निराकारस्वरूप हैं।

प्र०—भजनका स्वरूप क्या है ?

उ०—भगवदाकार तैलधारावत् वृत्ति भजनका स्वरूप है।

प्र०—भजनके योग्य चित्त कैसे बनता है ?

उ०—गुरु और शास्त्रमें पूर्ण श्रद्धासे भजनकी योग्यता प्राप्त होती है। स्त्री-पुत्र, धनादिकी आसक्ति छोड़नेसे ही भजनके योग्य चित्त बनता है।

प्र०—भजन कहाँ करना चाहिये ?

उ०—गृहस्थके लिये स्त्री, बालक आदिसे रहित एकान्त स्थानमें और विरक्तके लिये जन-शून्य अरण्यमें कुटी होनी चाहिये।

प्र०—भजनमें विघ्न क्या हैं ?

उ०—विषयासक्ति और विषयी पुरुषोंका संग भजनमें प्रधान विघ्न हैं।

प्र०—भजनमें क्या आवश्यक हैं ?

उ०—शास्त्रविहित कर्मोंमें निपुणता और सात्त्विक व्यवहार तथा गीताके सतरहवें अध्यायमें कहे हुए शारीरिक, वाचिक और मानसिक तप परम आवश्यक हैं। तीनों तरहकी तैयारी करनी पड़ती है।

प्र०—भगवत्प्राप्तिका क्या उपाय है ?

उ०—भगवन्नाम स्मरण करना, भगवान्की सेवा करना, भगवद्भक्तोंकी सेवा करना, भगवद्भक्तोंका संग करना, भगवान्का गुणानुवाद करना, भगवद्भक्तोंकी जीवनी पढ़ना, भगवान्का ध्यान करना, भगवान्का नामसंकीर्तन करना और भगवान्में आसक्ति हो जाना ही भगवत्प्राप्तिका उपाय है।

प्र०—भगवद्भक्तोंको किन-किन बातोंसे बचना चाहिये।

उ०—(१) मतमतान्तरके झगड़ेसे बड़ी भारी हानि होती है; अतः एक-दूसरे पन्थकी निन्दा न करे। (२) कपटव्यवहारका सर्वथा त्याग करे। (३) स्त्री, बालक और मूर्खोंका संग न करे। (४) प्रतिदिन कुछ समयके लिये एकान्तवास करे। (५) विषयी मनुष्योंका संग त्याग करे। (६) विषयचिन्तनका त्याग करे। (७) विषयोंके संगसे सर्वथा डरता रहे। (८) परनिन्दाका त्याग करे। (९) इन्द्रियलोलुपता भी भजनमें बाधक है। इसका भी त्याग करे।

प्र०—महाराजजी ! संसारमें बहुत पाप होने लगा है, कैसे होगा ?

उ०—भैया, जो तुम्हारे लाला करेंगे सो होगा। तुम क्यों

फिक्र करते हो, जिसने इस संसारको बनाया है उसे खुद फिक्र होगा। तुम्हें तो अपने लालाका भजन करना चाहिये।

प्र०—भजन करनेमें रुचि कैसे बढ़े ?

उ०—भजन करनेसे ही भजनमें रुचि बढ़ती है।

प्र०—सत्संग करनेसे भी भजनमें रुचि क्यों नहीं होती ?

उ०—पापकी अधिकता होनेके कारण नहीं होती। सत्संगसे तो श्रद्धा और भजनमें रुचि बढ़ती ही है।

प्र०—कभी-कभी तो स्वाभाविक ही भजनमें रुचि हो जाती है और कभी-कभी चेष्टा करनेपर भी नहीं होती, इसमें क्या हेतु है ?

उ०—इसमें हेतु है सत्त्व, रज और तमकी प्रवृत्ति। [मन न लगनेपर भी] नियमपूर्वक भजन करनेसे रज और तमकी निवृत्ति हो सकती है।

प्र०—भजन किसका करना चाहिये ?

उ०—जो सबसे बड़ा हो। शुद्धब्रह्म पृथिवी, शबलब्रह्म बीज, हिरण्यगर्भ अङ्कुर, विराट् वृक्ष और अवतार फल है। जिसको फल खानेकी इच्छा हो, उसको अवतारी भगवान्‌का ही भजन करना चाहिये ?

प्र०—भजन और सत्संगमें कौन श्रेष्ठ है ?

उ०—जिससे भगवदाकारवृत्ति हो जाती है वही भजन है। सत्संग, सेवा, नामजप और ध्यानसे भगवदाकारवृत्ति हो जाती है। अतः दोनों ही समान हैं।

प्र०—भजनमें अधिक समय लगाना चाहिये या सत्संगमें ?

उ०—वैधी, (गौणी) भक्तिवालेको तो सत्संगमें अधिक समय लगाना चाहिये। अनुरागात्मिका भक्तिवालेको भजनमें अधिक समय लगाना चाहिये। शास्त्रकी परम्परासे भक्ति करनेके क्रमको वैधी भक्ति कहते हैं। अनुरागात्मिका भक्ति वह है, जिसमें भजन किये बिना रहा ही न जाय, इसके बाद प्रेमलक्षणा भक्ति स्वतः ही प्राप्त हो जाती है।

प्र०—भजन करनेमें सञ्चित कर्म बाधा देते हैं या नहीं ?

उ०—भजन करनेके लिये दृढ़ताकी आवश्यकता है। दृढ़ संकल्प हुए बिना सब बाधा देते हैं और उनमें भी कुसंग-जैसी बाधा और कोई नहीं देता। सञ्चित कर्म बाधा नहीं दे सकता। भजन न करनेवालेको ही सञ्चित कर्म बाधा देता है। सत्संग, सच्छास्त्रविचार और भजनसे सञ्चित कर्म दब जाते हैं। भक्तोंके जीवनचरित्र पढ़नेसे भजनमें जितनी रुचि बढ़ेगी, उतनी भगवान्‌के चरित्रोंसे भी नहीं होगी। भक्तने भगवान्‌को प्रकट किया है इससे भक्त भगवान्‌से भी बढ़कर है। भक्तोंके गुणगान भगवान्‌के गुण-गानसे भी बढ़कर हैं। स्वल्प पुण्य करनेवालेको प्रसाद, नामगुण-गान, भक्तचरित्र और भगवान्‌के विग्रहमें प्रीति नहीं होती, भक्तोंमें प्रेम हो गया तो वह भगवान्‌के प्रेमका अधिकारी हो गया।

प्र०—क्या भक्तको फिर मनुष्य-जन्म मिलेगा ?

उ०—वह मनुष्योचित कर्म करेगा तो उसे मनुष्य-जन्म मिलेगा। एक राधावल्लभजीका उपासक था। एक समय उसे

सन्निपात हो गया, उसमें भी वह राधा-कृष्णके पद गाता रहा। दूसरा एक ठेकेदार था, एक समय उसे भी सन्निपात हो गया, उसमें वह कहता रहा 'अरे ! कंकड़ कूटो, मजदूरोंको बुलाओ।' उसे भगवन्नाम लेनेको कहा गया परन्तु वह न ले सका। इसीलिये कहा गया है—'सदा तद्भावभावितः।'

प्र०—श्रीभगवान् सबके सामने प्रकट होकर सबको दर्शन कैसे दे सकते हैं ?

उ०—भगवान् चाहें तो सबके सामने प्रकट होकर दर्शन दे सकते हैं। और यदि भक्त चाहे कि जिस समय मैं ध्यान करूँ उस समय भगवान् सबको दर्शन दें तो भगवान् उसकी प्रार्थनासे सबके सामने प्रकट होकर भी दर्शन दे सकते हैं।

प्र०—यदि भक्तोंसे भगवद्दर्शन करानेकी प्रार्थना की जाती है तो वे कह देते हैं कि ऐसी प्रार्थना करनेका हमारा अधिकार नहीं है। ऐसी अवस्थामें क्या उपाय करना चाहिये ?

उ०—भक्तोंको प्रार्थना करनेका अधिकार क्यों नहीं है ? नारदादिने अनेकों बार भगवान्से प्रार्थना की है। भगवान्ने अपने भक्तोंके लिये छान छायी है, उनके प्रेमके वश होकर उनके सामने नृत्य किया है। इसलिये भक्तकी इच्छाके अनुसार भगवान् सब कुछ करनेको तैयार हैं। हाँ, भक्त वैसा अनन्य प्रेमी अवश्य होना चाहिये।

प्र०—महाराजजी, आपसे बढ़कर भक्त खोजनेके लिये कहाँ

जायँ ? आप ही भगवान्‌से ऐसी प्रार्थना कीजिये कि वे सबके सामने प्रकट होकर सभीको दर्शन दें।

उ०—मैं तो वैसा भक्त नहीं हूँ। जो ऐसे भक्त हैं उनके सामने यह प्रस्ताव रक्खा जाय।

प्र०—महाराजजी! ऐसे बृहत् सम्मेलनोंकी* सफलता तो तभी समझी जा सकती है जब कि भगवान् सबके सामने प्रकट होकर दर्शन दें ?

उ०—यह कोई असम्भव बात तो है नहीं। किन्तु यह कार्य ऐसे सम्मेलनोंमें नहीं हुआ करता। इसके लिये तो अलग ही केवल उच्च-उच्च कोटिके संत और भक्तोंका सम्मेलन हो और केवल वे ही लोग इसके लिये प्रयत्न करें तो ऐसा कार्य हो सकता है।

प्र०—मनुष्य-जीवनका प्रधान लक्ष्य क्या होना चाहिये ?

उ०—मननशीलको मनुष्य कहते हैं। उसके दो लक्ष्य होने चाहिये—एक ईश्वरप्रेम और दूसरा शास्त्रोक्त व्यवहार।

प्र०—सत्संग करते रहनेपर भी वैराग्य क्यों नहीं होता ?

उ०—वैराग्य होनेका कारण है भगवान्‌में आसक्ति होना और वह होती है भजनसे। सत्संग भी एक प्रकारसे भजन ही है, इसके दृढ़ अभ्याससे भगवान्‌में आसक्ति होनेपर वैराग्य होगा।

---

* इस समय महाराज श्रीहरिबाबाजीके बाँधपर पधारे थे, वहाँ एक बृहत् संकीर्तनोत्सव हो रहा था।

प्र०—भगवान्‌का रूप क्यों नहीं दिखायी देता ?

उ०—मन्दिरमें जाकर देखो क्या है ? श्रीवृन्दावनके जिन मन्दिरोंमें एक-एक दिनमें तीन-तीन सौ चार-चार सौ रुपयेका भोग लग जाता है, क्या वे यों ही हैं ? क्या भगवान् वहाँ नहीं हैं ? तुम्हें विश्वास तो है ही नहीं।

× × × ×

इष्टदेवके अनन्त नाम और अनन्त रूप हैं, लेकिन हमको एक नाममें, एक रूपमें अनन्य प्रेम होना चाहिये।

भगवान्‌को निवेदन करके जो वस्तु खाते हैं उसे प्रसाद कहते हैं; व्रजवासियोंका तो टुकड़ा ही भगवत्प्रसाद है।

भगवान्‌का निरन्तर चिन्तन ही भजनका तरीका है।

अगर तुम भगवान्‌को प्राप्त करना चाहते हो तो भजन करो।

भजनमें जितनी बाधक परनिन्दा है, उतना कोई नहीं है।

चोरोंको जैसे चोरीकी चिन्तामें निद्रा नहीं आती, ऐसी वृत्ति जब भजनमें होगी तभी कुछ मिलेगा।

निर्बलता बलवान्‌का सहारा लिये बिना नहीं जाती। इसलिये सबसे बड़े बलवान्‌का सहारा लेना चाहिये। सबसे बड़े बलवान् केवल भगवान् ही हैं। इसलिये उन्हींका सहारा लेना उचित है।

संत श्रीनारायण स्वामीजी महाराजने क्या ही अच्छा कहा है—

सुने न काहूकी कही, कहे न अपनी बात।
नारायण वा रूपमें, मगन रहे दिन रात॥

सांसारिक निन्दा न करके, भगवत्-गुणानुवाद, भगवत्-कीर्तन करना चाहिये।

निष्ठा एक ही होनी चाहिये, किन्तु वह दृढ़ हो। व्रजमें एक महात्मा थे। उनके पास एक भक्त आया। उसने कहा—'मुझे दीक्षा दीजिये।' उन्होंने कहा—'तुम राधे-राधे कहो और गोवर्धनकी नियमसे परिक्रमा किया करो। कुछ कालके पश्चात् उपदेश करेंगे।' उन्होंने दृढ़ विश्वास करके ऐसा ही किया। कालान्तरमें वे बड़े सिद्ध महात्मा हो गये। तब उनके गुरुजीने कहा—'अब तुम्हें दीक्षा दूँगा।' उन्होंने कहा—'महाराज! मेरी तो दीक्षा हो चुकी, अब मुझे दीक्षाकी जरूरत नहीं।'

श्रीमंगलमय हरिका सम्मान करो, बार-बार उनका स्मरण करो, प्रत्येक वस्तुमें उन्हींको देखो, निरन्तर प्रीति करो, उनके विरहमें रोओ, उनकी यादमें आँसू बहाओ।

एक दिन श्रीराधारानीजी भगवान्को पंखा झलती-झलती समाधिस्थ हो गयीं, जागनेपर उन्होंने अपनेको बहुत धिक्कारा। ऐसी समाधि किस कामकी, जिससे भगवान्की सेवा छूट जाय। जो सेवक हैं, वे तो नित्य सेवा ही चाहते हैं।

रुक्मिणीको भगवान्ने कहा कि तुमने सब राजाओंको छोड़कर मुझे पति क्यों बनाया। तब वह बोली—'महाराज! जिस परमात्माकी प्राप्तिकी इच्छावाले सम्राट् एवं राजालोग अपने सम्पूर्ण राजवैभवको तिलाञ्जलि देकर चले जाते हैं, उन राजाओंके साथ आपकी तुलना नहीं हो सकती। क्योंकि आप राजराजेश्वर साक्षात्

भगवान् हैं। आप हाड़-मांसके पुतले भी नहीं हैं। आप साक्षात् पूर्ण ब्रह्म हैं। इसलिये मैंने सब तरफसे अपना मन हटाकर आप भगवान्में आसक्ति की।' इसी प्रकार हमलोगोंको भी सब सांसारिक पदार्थोंसे अपना मन हटाकर केवल भगवान्को अर्पण कर देना चाहिये।

शास्त्रमें कहा है—'यदहरेव विरजेत्तदहरेव प्रव्रजेत्' अर्थात् जिस दिन वैराग्य हो उसी दिन विरक्त होकर चला जाय। इसलिये यदि कोई भजन तथा ब्रह्मचर्यपालन करनेमें विरोध करे तो उसकी बात नहीं माननी चाहिये।

प्रारम्भमें यदि कोई दम्भसे भी भजन करता हो तो भी उसका विरोध नहीं करना चाहिये। क्योंकि साधु-सङ्ग निरन्तर होनेसे धीरे-धीरे उसका दम्भ छूट जायगा और वास्तविक भजन होने लगेगा। इसलिये भजन न करनेकी अपेक्षा दम्भसे भी भजन करनेवाला उत्तम है। भजनकी नकल करना भी उत्तम है, क्योंकि उससे वह सच्चे भजनमें भी लग सकता है।

भाव कुभाव अनख आलसहूँ। नाम जपत मंगल दिसि दसहूँ॥

जो भगवन्नाम लेगा वह शुभ काम अवश्य करेगा। यदि उसके कोई पूर्वपाप हों तो वे सब भी भगवत्कृपासे छूट जायँगे।

भगवान् कल्पवृक्ष हैं, जो जिस इच्छासे उनके पास जाता है, उसे वही मिलता है। जीवकी स्वाभाविक चाह है कि मैं सदा सुखी रहूँ। वह जितना ही अधर्मसे (मायासे) डरेगा, उतना ही भगवत्-सुख बढ़ेगा।

चराचर जगत् भगवान्‌से भिन्न नहीं है, ऐसा जानकर जो भगवान्‌को स्मरण करता है, वह सुखी है।

भगवत्-दर्शनकी इतनी चिन्ता न करे, भगवत्-स्मरणकी अधिक चिन्ता करे। किसी प्रकार परमात्माकी शरण जानेसे माया छूट सकती है। जबतक हम और परमात्मा दोनों रहते हैं, तबतक तल्लीनता नहीं।

१ स्त्रीका दर्शन, २ स्त्रीचिन्तन, ३ स्त्रीके सौन्दर्यका वर्णन, ४ उनके साथ सम्भाषण और ५ उनका स्पर्श। इनसे बचना चाहिये। यह पाँचों कामके साधन हैं, विषयोंमें ले जाते हैं। और १ भगवद्विग्रहदर्शन, २ भगवच्चिन्तन, ३ भगवद्‌गुणानुवाद, ४ भगवद्भक्तोंके साथ सत्संग, ५ भगवद्भक्तोंकी, भागवतोंकी सेवा, ये प्रेमके साधन हैं। भगवान्‌की ओर ले जाते हैं।

भगवद्भजनके साथ इन बातोंका खयाल अवश्य करना चाहिये—१ सत्संग उसी महात्माका करे जो इष्टमें समानता रखता हो, २ परनिन्दा, परस्त्री, परधनसे हमेशा दूर रहे, ३ किसी भी संसारी पुरुषसे मित्रता न करे, ४ भगवद्भजनको छोड़कर अपनी इन्द्रियों-को विषय-चिन्तनमें न लगावे, ५ स्वाद और वादविवाद इन दोनोंसे बचता रहे, ६ जल्दबाज न हो, ७ सदा प्रसन्न रहे, उदासी कभी न आने दे, ८ कठोर भाषण किसीसे न करे, ९ जन्म-मृत्युका भय न रक्खे—

सकल कामना हीन जे रामभगति-रस लीन।
नाम-प्रेम-पीयूषहृद तिनहुँ किये मन मीन॥

हृदयमें तो श्रीभगवान्‌का ध्यान हो, सब शरीरमें पुलकावली हो जाय, जिह्वामें नामका जप हो, नेत्रोंमें अश्रुधारा बहती हो, इससे बढ़कर भक्तका और क्या सौभाग्य हो सकता है ?

मैं एक बार व्रजके जंगलमें विचर रहा था। वहाँ एक महात्माके दर्शन हुए। मैंने उन महात्माजीसे पूछा कि कुछ अनुभव कहिये, तब आपने बड़े प्रेमसे हाथ उठाकर यह दोहा कहा—

हाथ उठाके कहत हूँ कहा बजाऊँ ढोल।
स्वासा खाली जात हैं तीन लोकका मोल॥

कुतर्कियोंको भगवान् त्रिकालमें भी नहीं मिलेंगे। भगवान्‌से मिलनेका एकमात्र उपाय श्रद्धा ही है। जबतक शिष्य यह न समझ ले कि गुरु ही मेरा सर्वस्व है तबतक शिष्यका कल्याण नहीं हो सकता।

(१) सत्संग (२) भगवत्सेवा (३) श्रीमद्भागवतका पाठ (४) श्रीभगवन्नामकीर्तन ये चारों भगवत्-प्राप्तिके साधन हैं।

अपने धर्मपर तत्पर होना चाहिये। संसार नित्य हो या अनित्य, धर्म नित्य है, अतः धर्मका पालन करना चाहिये। श्रुति-स्मृतिकी जो आज्ञा है, वही करना धर्म है और शास्त्र-विरुद्ध कर्म ही पाप है।

साधकके लिये

साधकके लिये विषयी पुरुषोंका संग और विषयमें प्रेम—ये पतनके कारण हैं ।

ईश्वरमें प्रेम होनेसे विषय-प्रेम दूर हो जाता है ।

साधकको शरीर स्वस्थ और खान-पानका संयम रखना चाहिये ।

भजन गुप्तरूपसे करना चाहिये । अपनेको भजनानन्दी प्रकट न करना चाहिये ।

भजनसे कभी तृप्त न होना चाहिये ।

भगवान्‌से सांसारिक विषयकी प्रार्थना नहीं करनी चाहिये ।

खोटे पुरुषोंका संग त्यागकर सदा ब्रह्मचर्यका पालन करना चाहिये ।

पापकर्म, छल, कपट, मान, धन और स्त्रीका अनुराग, पर-निन्दा और परचर्चाका प्रेम, गर्व, अभिमान, धूर्तता तथा पाखण्ड आदि दोषयुक्त मनुष्योंका संग, इनका सदा त्याग करना चाहिये।

परदोषदर्शन भगवत्प्राप्तिमें महान् विघ्न है।

साधकको साम्प्रदायिक झगड़ोंमें नहीं पड़ना चाहिये।

निरन्तर जप, पाठ, पूजन और ध्यानमें समय बिताना चाहिये।

एकान्त स्थानमें रहनेका अभ्यास करना चाहिये। निद्रा या आलस्य सतावे तो ऊँचे शब्दसे सद्ग्रन्थ-पाठ अथवा भगवन्नाम-जप करना चाहिये।

आसक्ति छोड़कर किये हुए सभी शुभ कर्म भजनमें शामिल हैं।

सब प्रकारके दुःखोंको शान्तिपूर्वक सहना चाहिये।

क्रोधीके प्रति क्षमा और वैरीके प्रति प्रेम करना चाहिये तथा बुरा करनेवालेके साथ भी भलाई करनी चाहिये।

अपनेको सबसे छोटा समझना, अभिमान न करना, किसीका दोष न देखना, किसीसे घृणा न करना, कम बोलना, अनावश्यक न बोलना, सदा सत्य और मीठे वचन बोलना, यथासाध्य सबकी सेवा करना, दीनोंपर दया करना, विवाह-उत्सव आदि जनसमूह-में कम शामिल होना, पापोंसे सावधान रहना और ईश्वरपर पूर्ण विश्वास रखना—ये साधकके आवश्यक गुण हैं।

सुवर्ण और स्त्री इन दोनोंसे बचकर रहो, ये भगवान् और जीवके बीचमें खाई बनाते हैं, जिससे यमराज मुँहमें धूल डालता है।

अविनाशी भगवान् और जीवके बीचमें तीन धाराएँ (नदियाँ) हैं-(१) कुल, (२) काञ्चन और (३) कामिनी। जो इन तीनोंको पार कर लेता है, (इनमें आसक्त नहीं होता) वह भगवान्‌के पास पहुँच जाता है।

तीन बातें सदा याद रखनी चाहिये—(१) दीनता, (२) आत्मचिन्तन और (३) सद्‌गुरुसेवा।

भजनके विघ्न ये हैं—

(१) लोकमें मान-प्रतिष्ठा होना।

(२) देश-देशान्तरमें ख्याति होना।

(३) धन-लाभ होना।

(४) स्त्रीमें प्रेम करना।

(५) संकल्पसिद्धि अर्थात् जिस पदार्थकी मनमें इच्छा हो वही प्राप्त हो जाना।

भगवत्प्राप्तिके लिये ये अवश्य करने चाहिये—

(१) सहनशीलताका अभ्यास।

(२) समयको व्यर्थ न गँवाना।

(३) पदार्थ पास होनेपर भी भोगनेकी इच्छा न करना।

(४) निरन्तर इष्टदेवका चिन्तन करना।

(५) सद्‌गुरुकी शरण ग्रहण करना।

श्रीभगवान् चार मनुष्योंपर अधिक प्रेम करते हैं और चार-पर अधिक क्रोध करते हैं।

किन चारपर अधिक प्रेम करते हैं—

(१) दान करनेवालेपर प्रेम करते हैं, लेकिन जो कंगाल होते हुए भी दान करता है, उसपर ज्यादा प्रेम करते हैं।

(२) शूरवीरपर प्रेम करते हैं, लेकिन जो शूरवीर विचारवान् होता है उसपर ज्यादा प्रेम करते हैं।

(३) दीनपर प्रेम करते हैं, लेकिन जो धनी होकर भी दीन हो जाता है उसपर ज्यादा प्रेम करते हैं।

(४) भक्तपर प्रेम करते हैं, लेकिन जो बचपन या जवानीसे ही भक्ति करता है, उसपर ज्यादा प्रेम करते हैं।

किन चारपर अधिक क्रोध करते हैं—

(१) लोभीपर क्रोध करते हैं, लेकिन जो धनी होकर लोभ करता है, उसपर ज्यादा क्रोध करते हैं।

(२) पाप करनेवालेपर क्रोध करते हैं, लेकिन जो बुढ़ापेमें पाप करता है, उसपर ज्यादा क्रोध करते हैं।

(३) अहंकारीपर क्रोध करते हैं, लेकिन जो भक्त होकर अहंकार करता है, उसपर ज्यादा क्रोध करते हैं।

(४) क्रियाभ्रष्टपर क्रोध करते हैं, लेकिन जो विद्वान् होकर क्रियाभ्रष्ट होता है, उसपर ज्यादा क्रोध करते हैं।

विश्वास करो, मंगलमय श्रीहरि तुम्हारे साथ निरन्तर खेल कर रहे हैं। दुखी क्यों होते हो ? दुखी होना अपनेको अविश्वासकी अवस्थामें फेंकना है। सारी परिस्थितिके रचयिता ईश्वर हैं। जिस प्रभुने तुम्हें पैदा किया है, जिस प्रभुने तुम्हारे जीवन-रक्षाके

हेतु नाना वस्तुओंकी सृष्टि की है, जिस प्रभुने सूर्य और चाँद-जैसी मनोहर दिव्य वस्तुएँ दी हैं वही प्रभु तुम्हें बुद्धियोग भी प्रदान करेगा।

किन्तु आवश्यकता है–सर्वतोभावेन अपनेको उसके ऊपर छोड़ देनेकी—निछावर कर देनेकी। अपनी सारी अहंता और ममताको उसीके चरणोंमें रख दो। अहंता और ममता ही बन्धन हैं। बन्धनमें क्यों पड़े हो? इस महा दुःखदायी बन्धनको अपना महाशत्रु समझ उतारकर फेंक दो।

भगवत्प्राप्तिके चार उपाय हैं (१) भगवद्दर्शनकी तीव्र उत्कण्ठा, (२) निरन्तर नामजप, (३) विषयोंमें अरुचि, (४) सहनशीलता।

मैं चार बातें सबको बतलाता हूँ–१–सहनशक्ति, २–निरभिमानता, ३–निरन्तर नामस्मरण और ४–'भगवान् अवश्य मिलेंगे' इस बातपर पूर्ण विश्वास। जहाँ इसमें सन्देह हुआ कि सब गया। इन चार बातोंमें जब तुम पास हो जाओगे तब समझ लो कि सब कुछ हो गया।

जिस कार्यसे भगवच्चिन्तनमें कमी हो उसको कभी न करे। एक वक्त या दो वक्त भूखे रहनेसे यदि भजन बढ़ता हो तो वही करना चाहिये। जहाँतक हो खर्च कम करे, आवश्यकताओंको न बढ़ावे। विरक्तको तो माँगना ही नहीं चाहिये। साधु दाल-रोटी माँगकर खा ले या गृहस्थके घरमें जो मिले वही खाना चाहिये।

गुरुमहिमा

प्र०—लक्ष्यप्राप्तिके लिये गुरुकी भी आवश्यकता है या नहीं ?

उ०—सद्गुरुकी आवश्यकता जरूर है। यदि लौकिक गुरुमें पूर्ण श्रद्धा न हो तो वशिष्ठ आदिको गुरु मानना चाहिये। उनमें विश्वास होनेसे वे स्वप्नमें उपदेश दे देंगे परन्तु यह कठिन है इसलिये लौकिक गुरु करनेकी आवश्यकता है।

प्र०—सद्गुरुके लक्षण बतलानेकी कृपा कीजिये।

उ०—जिसका नाम सुननेसे, जिसके दर्शन करनेसे, जिसके वचन सुननेसे भगवत्स्मृति हो और विलक्षण आनन्द हो, उसको गुरु समझना चाहिये। दूसरा लक्षण है, जो कामिनी-काञ्चनका त्यागी हो और दैवी सम्पत्तिसे युक्त हो। इनमें पहला लक्षण मुख्य है। गुरुको समझनेकी तो शिष्यमें सामर्थ्य नहीं है इसलिये जहाँतक बन पड़े उपर्युक्त गुणवाले महात्माको ही गुरु मानना चाहिये। यदि एकसे काम न बने तो दूसरा गुरु भी कर सकते हैं।

गुरु तीन बनाने आवश्यक हैं—

(१) विद्यागुरु।

(२) दीक्षागुरु।

(३) शिक्षागुरु अर्थात् सद्गुरु।

गुरुमें जबतक भगवद्बुद्धि नहीं की जाती, तबतक संसार-सागरसे पार नहीं हुआ जा सकता। गुरुमें मनुष्यबुद्धि होना ही पाप है। गुरु और भगवान्में बिल्कुल भेद नहीं है, यही मानना कल्याणकारी है और इसी भावसे भगवान् मिलते हैं—

भक्ति, भक्त, भगवन्त, गुरु नाम चार वपु एक।
इनके पद वन्दन करूँ, नासत विघ्न अनेक॥

शिष्य वही है जो गुरुको सर्वस्व अर्पण कर दे और गुरु वही है जो शिष्यसे कुछ भी न ले।

शिष्य तो ऐसा चाहिये, जो गुरुको सब कुछ देय।
गुरु भी ऐसा चाहिये, जो कौड़ीहू ना लेय॥

यह बात छत्रपति महाराज शिवाजी और समर्थ गुरु श्रीरामदासजी महाराजमें घटती है। शिवाजी महाराजने श्रीरामदासजी महाराजको सब कुछ दे दिया लेकिन श्रीरामदासजीने कुछ भी नहीं लिया।

शास्त्र देखते-देखते तुम्हारा जन्म नष्ट हो जायगा, समझते-समझते तुम्हारा जीवन समाप्त हो जायगा, परन्तु हाथ कुछ न लगेगा। इसलिये गुरुके वचनोंमें विश्वास करके शास्त्रानुसार साधना करो।

विचारकी उत्पत्ति गुरुसेवासे भी होती है। जैसे भृंगीका ध्यान करते-करते कीड़ा तद्रूप हो जाता है, इसी प्रकार गुरुकी सेवामें तत्पर रहनेसे शिष्यमें गुरुके गुण आ जाते हैं।

भक्तिरहस्य

प्र०—भगवान्‌की कृपा तो सभीपर समान है, फिर उसके लिये किसी प्रकारकी याचना करनेकी क्या आवश्यकता है? और मनुष्योंकी परिस्थितिमें भी अन्तर क्यों है?

उ०—भगवान् या महात्माकी कृपा सामान्यतः तो सभीपर समान है; परन्तु भक्तकी सेवासे जो उन्हें एक विशेष प्रकारका सन्तोष होता है वही विशेषतया कल्याणका हेतु होता है। इसीसे मनुष्योंकी परिस्थितिमें भी अन्तर है। उस भगवत्प्रसाद या महात्माकी प्रसन्नताके दो कारण हैं। या तो भक्तिपूर्वक उनकी सेवा की जाय और या उनकी आज्ञाका पूर्णतया पालन करे।

प्र०—प्यारे श्रीकृष्णके दर्शन किस उपायसे हो सकते हैं?

उ०—संसार दुःखवत् प्रतीत होनेसे मनुष्य भगवद्भक्तोंकी शरणमें

जाता है। भगवद्भक्तोंमें प्रेम होनेसे भगवान्‌में प्रेम स्वाभाविक हो जाता है। भगवान् और भक्तोंकी कृपा ही मुख्य साधन है।

प्र०—गोपिकाओंकी भाँति भगवान्‌में अनन्य प्रेम होनेके लिये क्या करना चाहिये ?

उ०—एक इष्टदेवके सिवा कोई इष्ट न रहे ऐसी अनन्यता होनी चाहिये। अनन्य प्रेमप्राप्तिके लिये प्रथम तो मूर्तिकी बाह्य सेवा-पूजा करे वल्लभकुलवालोंकी भाँति। उसके बाद मानसिक पूजा-सेवा करनी चाहिये, क्योंकि केवल बाह्य पूजासे प्रेमप्राप्ति नहीं हो सकती। बाह्य पूजासे मानसिक पूजा श्रेष्ठ है, स्थिर आसनसे इष्टदेवका चिन्तन करते हुए जप करना चाहिये। केवल बाह्य जपमें लगे रहनेसे ध्यान तथा विशेष आनन्द नहीं होता। इससे बहुत कालमें लाभ होता है; इसलिये जपके साथ ध्यान, मानसिक पूजा और दैवी सम्पत्तिके गुण धारण करना और अवगुणोंको छोड़ना अत्यन्त आवश्यक है।

प्र०—श्रीशुकदेवजीकी भाँति तीव्र वैराग्य होनेके लिये क्या करना चाहिये ?

उ०—निष्काम भगवत्प्रेम या ध्यान ही तीव्र वैराग्यका साधन है, बिना प्रेमके जो बाह्य त्याग करते हैं, वह मूल्यवान् नहीं है, उसमें धोखा हो सकता है।

प्र०—क्या सविशेष उपासना निर्विशेष उपासनाका साधन है ?

उ०—भगवान्‌के सोपाधिक और निरुपाधिक दोनों ही रूप स्वयंप्रकाश हैं। सविशेष उपासना निर्विशेष उपासनाका

साधन है—यह विचार ठीक नहीं। प्रेमी भगवान्‌के सविशेष-निर्विशेष किसी भी रूपसे प्रेम करे वह भगवान्‌से ही प्रेम करता है। भगवान्‌के इन रूपोंमें किसी प्रकारका तारतम्य मानना ठीक नहीं। हाँ, भगवान्‌के शुद्ध स्वरूपको समझनेके लिये यदि ऐसा भेद किया जाय तो कोई आपत्ति नहीं। परन्तु यह सिद्धान्त नहीं है। भगवान्‌का सगुण रूप भी वस्तुतः निर्गुण ही है, क्योंकि भगवान् भक्तानुग्रहविग्रह हैं। भक्तोंको आनन्दित करनेके लिये उनकी भावनाके अनुसार वे भिन्न-भिन्न रूपोंमें भासते हैं। वस्तुतः तो वे सच्चिदानन्दस्वरूप ही हैं। श्रीगोसाईंजी महाराज कहते हैं—

निरगुन ब्रह्म सगुन भए कैसें। जलु हिम-उपल बिलग नहि जैसें॥

प्र०—जितने भी महापुरुष हैं या हुए हैं उनकी निन्दा क्यों होती है?

उ०—भगवान्‌की दो शक्तियाँ हैं १ माया और २ भक्ति। जहाँ माया है वहाँ भक्ति नहीं रहती। और जहाँ भक्ति है वहाँ माया नहीं रहती। मायाशक्ति भक्तोंके हृदयमें तो आ नहीं सकती। वह दुष्टोंके हृदयमें आ जाती है। इसीलिये वे भक्तोंकी निन्दा ही किया करते हैं।

प्र०—श्रीकृष्ण भगवान्‌में प्रेम होनेकी जोरदार बातें सुनानेकी कृपा कीजिये।

उ०—हमारे पास तो वैसी बात नहीं, किन्तु भागवतमें श्रीकृष्ण-

प्रेमके सम्बन्धमें बहुत जोरदार बातें कही गयी हैं। उनको देखना चाहिये। एवं रामायणमें कहा है—

सोइ सेवक प्रियतम मम सोई। मम अनुसासन मानइ जोई॥

भगवान्‌की दयालुता तो सभी जीवोंपर होती है। लेकिन मनकी मलिनतासे हमें माळूम नहीं होता। मीराबाई जहरका प्याला पी गयी थीं, उनका कुछ नहीं बिगड़ा।

पराभक्तिमें ज्ञान भी रहता है, प्रेम भी रहता है। श्रीनारायण-स्वामीजी भी कहते हैं—

पराभक्ति अरु ज्ञानमें तनिकौ नाहीं भेद।
नारायण मुख्य प्रेम है, कहैं संत और वेद॥

भगवत्-प्राप्तिके अनेक मार्ग हैं, किन्तु एक ही पुरुषद्वारा एक ही समयमें सबका साधन नहीं किया जा सकता। इसलिये भक्तको तो भक्ति बढ़ानेवाले कार्य ही करने चाहिये।

विषयोंमें सुख नहीं है। सुख तो केवल एक भगवान् श्रीकृष्णहीमें है। श्रीनारायणस्वामीजी महाराज कहते हैं—

मनमें लागी चटपटी कब निरखूँ घनस्याम।
नारायण भूल्यो सभी खान, पान, विसराम॥
ब्रह्मादिकके भोग सब विष सम लागत ताहि।
नारायण ब्रजचन्दकी लगन लगी है जाहि॥

जगत्‌का चिन्तन छूट जाय, श्रीकृष्णका ही चिन्तन हो। बस, इसीका नाम भक्ति है।

जैसे संसारी मनुष्यका किसी स्त्रीमें प्रेम हो जाता है, तो वह, चाहे कोई कुछ भी कहे, किसीकी नहीं सुनता, इसी प्रकार जिसको श्रीकृष्णप्रेम हो जाता है उसकी संसार कितनी ही बुराई करे, वह किसीकी परवा नहीं करता।

गुरुका अंग, साधुका संग, नामका रंग, विवेकका अभंग और प्रभुका विश्वास होना आवश्यक है। [अर्थात् गुरुकी सेवा, सत्संग, हरिनाममें प्रेम, विवेककी जागृति और भगवान्में विश्वास होनेसे सब कुछ सिद्ध हो जाता है।]

अनेक जन्मोंके शुभ संस्कार इकट्ठे होनेपर श्रीकृष्णमें भक्ति होती है—

जन्मान्तरसहस्राणां कृष्णे भक्तिः प्रजायते।

विषयासक्ति बन्धन है परन्तु भगवदासक्ति बन्धन नहीं है क्योंकि भगवान्में आसक्ति होनेसे विषयासक्ति नष्ट हो जाती है।

आसक्ति किये बिना जब हम रह नहीं सकते तो फिर हमें भगवान्में ही आसक्ति करनी चाहिये, चाहे सगुण साकारमें हो, चाहे निर्गुण निराकारमें हो। जिस तरफ दृढ़ संकल्प होगा उसीमें आसक्ति होगी।

एक तरफ भगवान् हैं, दूसरी तरफ सारा संसार है। हमको एक जगह प्रेम करना है तो दूसरी जगह छोड़ना पड़ेगा। जैसे लड़की ससुराल जाती है तब पिताके घरको बड़े दुःखसे छोड़ती है, पर ससुरालमें मन लगनेके बाद पिताका घर बहुत ही कम याद आता है। इसी प्रकार साधकको सारे संसारसे आसक्ति हटा-

कर भगवान्में प्रेम करना चाहिये । आरम्भमें दुःख-सा प्रतीत होगा, परन्तु भगवान्में प्रेम होनेके बाद संसार याद ही नहीं आवेगा । यह मोह केवल वेदान्त-विचारसे थोड़े ही छूटेगा क्योंकि आजकल वेदान्त-विचार करनेवाले तो बहुत देखे जाते हैं परन्तु मोह विरलोंका ही छूटता है । इसलिये भगवान्का आश्रय लेकर निरन्तर उनका भजन करनेसे ही मोह छूट सकता है ।

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया ।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ॥

(गीता ७ । १४)

सगुणमें प्रेम होनेके चार उपाय हैं—(१) भगवान्के नामका बारम्बार जप करना, (२) उनके गुणोंको बारम्बार कहना तथा सुनना, (३) उनके स्वरूपका ध्यान करना और (४) उनके भक्तोंका संग करना ।

स वै मनः कृष्णपदारविन्दयो-
र्वचांसि वैकुण्ठगुणानुवर्णने ।
करौ हरेर्मन्दिरमार्जनादिषु
श्रुतिं चकाराच्युतसत्कथोदये ॥

(श्रीमद्भा० ९ । ४ । १८)

उस (अम्बरीष) ने अपने चित्तको भगवान् श्रीकृष्णके सुरमुनिदुर्लभ चरणारविन्दका चञ्चरीक बना दिया, वाणीको भगवान् वैकुण्ठाधिपतिके हृदयहारी गुणोंके वर्णनमें लगा दिया, हाथोंको श्रीहरिके मन्दिरोंको साफ करने आदि कार्यमें नियुक्त कर दिया

और कानोंको भगवान् अच्युतकी त्रिभुवनपावनी कथाओंके सुननेमें तत्पर कर दिया ।

तुलसीदासजीने विनयपत्रिकामें सब देवताओंकी वन्दना की, किन्तु उन सबसे भीख केवल रामपदारविन्दकी ही माँगी, इसी प्रकार सूरदासजी कृष्णपदपङ्कजके भ्रमर बने रहे । अतएव साधकको भी भगवान्‌के किसी एक रूपमें मन लगानेकी चेष्टा करनी चाहिये किन्तु आजकल तो लोग कभी साकारकी उपासना करते हैं तो कभी निराकारकी, कभी वेदान्ती बनकर योगवासिष्ठ विचारते हैं तो कभी उपदेशक बनकर ब्रह्मका उपदेश देते हैं, इसीलिये उनको सिद्धि भी शीघ्र नहीं मिलती ?

प्र०—मनुष्यको भगवान्‌की इच्छापर रहना चाहिये या पुरुषार्थपर ?

उ०—भगवान्‌की आज्ञा पालन करते हुए पुरुषार्थ करनेमें तत्पर रहना एवं फलमें उनकी इच्छापर निर्भर रहना चाहिये क्योंकि पुरुषार्थ तीव्र करनेसे भगवत्-कृपासे सब कुछ हो सकता है । पुरुषार्थ करते हुए भी सिद्धि-असिद्धिमें भगवान्‌की इच्छाकी प्रधानता समझनी चाहिये । यही भक्तोंकी मान्यता है । भगवान्‌की इच्छा मानकर पुरुषार्थ किसी कालमें भी न छोड़े ।

प्रेम करनेमें विचारकी जरूरत नहीं है क्योंकि विचार करनेसे तो वस्तुका निश्चय होता है, प्रेम नहीं ।

हम दृढ़ संकल्पसे सब कुछ कर सकते हैं । संकल्पसे सृष्टिकी उत्पत्ति एवं प्रलय भी कर सकते हैं । ईश्वर-प्राप्ति भी दृढ़

संकल्पसे हो सकती है। चार महीने कुछ किया, छः महीने कुछ किया, इसीसे काम बिगड़ जाता है।

ज्ञानी और भक्तोंको त्रिकालमें भी दुःख नहीं होता और संसारी जनोंका दुःख त्रिकालमें भी नहीं छूटता।

भगवान्‌में मन जोड़नेसे भगवान्‌में प्रेम हो सकता है। जैसे विषयोंके संगसे विषयोंमें प्रेम होता है वैसे ही भक्तोंके संगसे भगवान्‌में प्रेम हो सकता है।

प्रथम श्रद्धा करनी चाहिये, फिर सत्संग करना चाहिये। सत्संग भी भक्तोंका करना चाहिये। प्रेमी अद्वैतवादके ग्रन्थोंको न सुने, न देखे और न उनकी निन्दा ही करे, क्योंकि भक्तोंके द्वैतभाव रहता है। जो अद्वैतके ग्रन्थोंको पढ़ता एवं सुनता है उसकी भक्ति दब जाती है। वेदान्त-विचार करनेवाला तो भक्ति कर सकता है किन्तु भक्त यदि वेदान्त-विचार करेगा तो उसकी भक्ति दूर हो जायगी। भक्तको तो भगवान्‌के गुणानुवाद ही सुनने और उन्हींकी भक्ति करनी चाहिये। भक्ति—(१) वैधी, (२) गौणी, (३) अनुरागात्मिका और (४) प्रेमलक्षणा, इस भेदसे चार प्रकारकी है।

१—मनुष्य-जन्मका कर्तव्य समझकर अपने पूर्वजोंकी देखा-देखी शास्त्रोक्त विधिके अनुसार जो भक्ति की जाती है उसे वैधी भक्ति कहते हैं।

२—भगवान्‌के गुण श्रवण करके मीराबाई, नरसी मेहता आदिकी तरह जो भक्ति की जाती है, उसे गौणी भक्ति कहते हैं।

३—गुण-अवगुणका विचार न कर भगवान्के साथ जो स्वाभाविक प्रेम होता है उसे अनुरागात्मिका भक्ति कहते हैं।

४—इन तीनोंके बाद जो स्वतः ही भगवान्के साथ प्रगाढ़ प्रेम हो जाता है उसे प्रेमलक्षणा भक्ति कहते हैं। उसका यथार्थ वर्णन हो ही नहीं सकता।

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः॥

गीताका यह श्लोक मुझे बड़ा प्रिय है!

श्रीमद्भागवतके दशम स्कन्धकी रासपञ्चाध्यायीको भगवान्में आसक्ति होनेके लिये पढ़ना चाहिये तथा भगवान्की पूजा-सेवा भी उन्हींमें आसक्ति होनेके लिये करनी चाहिये। यद्यपि भगवान् नित्यतृप्त हैं, सेवा-पूजासे उन्हें कौन तृप्त कर सकता है, तथापि भक्तोंपर दया करके भगवान् उनकी प्रीति बढ़ानेके लिये उनके द्वारा की हुई सेवा-पूजा ग्रहण करते हैं। अतः नित्य-निरन्तर भगवान्के गुणोंका कथन-श्रवण एवं नाम-संकीर्तन तथा साधुसंग आदि भक्तिवर्धक कार्य करते रहना चाहिये। इससे भगवान्में आसक्ति हो सकती है।

प्रथम श्रद्धा फिर सत्संग और उसके बाद भजन-क्रिया होती है। निन्दा भूलकर भी किसीकी नहीं करनी चाहिये, निन्दासे जितनी हानि होती है उतनी किसीसे नहीं होती। इस निन्दाको भगवन्नाम-जपमें पहला अपराध माना है इसलिये किसीके दोष नहीं देखने चाहिये एवं न निन्दा ही करनी चाहिये।

प्र०—भजन किसे कहते हैं ? अर्थात् भजनका स्वरूप क्या है ?

उ०—अन्तःकरणकी वृत्तिका भगवदाकार हो जाना ही भजन है। भजनका दूसरा अर्थ सेवा है। सेव्यको पूर्ण सुख पहुँचाना, उन्हींके सुखसे अपनेको परमानन्द होना; यह उनकी इच्छाके लिये नहीं, अपने ही आनन्दके लिये; क्योंकि ईश्वर या महापुरुषको सेवा करानेकी आवश्यकता नहीं होती। सेव्यके तद्रूप हो जाना ही सेवाका लक्ष्य है।

प्र०—भजन क्यों करना चाहिये ?

उ०—हम छोटे हैं, अवगुणी हैं, दीन-हीन हैं, और दुखिया हैं, इन बातोंको दूर करनेके लिये भजन करना चाहिये। जिसका भजन करेंगे उसके गुण अपनेमें आ जायँगे। हमारी अल्पशक्ति एवं चाहना-कामनाको दूर करनेके लिये भजन करना चाहिये। सबसे बड़ेका भजन करनेसे सबसे बड़ा बन जाता है।

प्र०—भजन करनेसे क्या लाभ है ?

उ०—प्रेम किये बिना हमसे रहा नहीं जाता। प्रेमकी पराकाष्ठाको पहुँच जाना, प्रेमस्वरूप परमात्माको प्राप्त कर लेना ही भजनका मुख्य लाभ है।

प्र०—भजन न करनेसे क्या हानि है ?

उ०—भजन किये बिना कोई रह नहीं सकता, विषयोंका भजन करनेसे विषयोंकी प्राप्ति होगी, विषय क्षणभंगुर हैं इसलिये

उन विषयोंके नाश होनेपर दुःख होगा अतएव भजन न करनेसे निरन्तर दुःखोंकी प्राप्ति होगी इससे बढ़कर क्या हानि होगी ?

प्र०—भजन करनेका अधिकारी कौन है ?

उ०—जो विषयमें दुःख देखे या जिसे विषय दुःखरूप दीखें, वही भजनका मुख्य अधिकारी है। जो विषयानन्दमें मस्त रहते हैं वे भजन नहीं कर सकते।

प्र०—भजन करनेवालोंसे पापकर्म क्यों नहीं छूटते ?

उ०—विषय-चिन्तन करनेको समय मिलता है, जिससे पाप होता है। यदि निरन्तर भजन होने लगे तो फिर उससे पाप नहीं हो सकते। जन्म-जन्मान्तरोंसे विषय-सेवन करते आये हैं इसलिये एक जन्मका सारा समय भजनमें लगावें तो भी थोड़ा ही है परन्तु उसे भी नहीं लगाते। जितना भजन करते हैं उतने तो पाप छूटते ही हैं।

प्र०—भजन करनेवालोंको एकान्तकी आवश्यकता है या नहीं ?

उ०—एकान्तकी अत्यन्त आवश्यकता है क्योंकि एकान्तके बिना विरोधी वृत्ति दूर नहीं होती है।

प्र०—भजन करनेवालोंको क्या करना चाहिये ?

उ०—आवश्यकतासे अधिक प्रवृत्ति करनेसे भजन नहीं होगा, अतः अधिकाधिक भजन करना और संसारकी ओरसे चित्त हटाना चाहिये।

भगवान्‌का नाम ही भावग्राही है। भगवान् विश्वासके अधीन हैं, चालाकी और तर्कसे वे दूर रहते हैं। सच्चे रोनेसे काम चलता

है। जो सच्चे अन्तःकरणसे रोवेगा उसे भगवान् अवश्य मिलेंगे, नकलसे भगवान् बहुत अप्रसन्न होते हैं।

भाव ही भगवान् हैं। भावके ही भगवान् भूखे हैं, और शास्त्रमें भी भाव ही प्रधान माना है।

भगवान्का सच्चा भक्त तो वही है कि जो भगवान्के अर्पण किये बिना कुछ नहीं खाता-पीता।

जो भगवान्का भक्त होगा, वह भक्तोंका भक्त अवश्य होगा और जो भक्तोंका भक्त होगा वह भगवान्का भक्त अवश्य होगा।

जैसे संसारी मनुष्यका स्त्रीमें प्रेम हो जाता है तो वह, चाहे कोई कुछ भी कहे, नहीं सुनता; इसी प्रकार जिसको श्रीकृष्णमें प्रेम हो जाता है उसकी संसार कितनी हीं बुराई करे, उसे क्या परवाह?

जगत्का चिन्तन छूट जाय, श्रीकृष्णका चिन्तन हो; बस इसीका नाम भक्ति है।

साधु-महात्माओंकी सच्ची सेवा उनकी आज्ञानुसार भगवद्भजन करना ही है। उन्हें रोटी तो कोई-न-कोई दे ही सकता है।

भक्तिका रूप—भक्ति नाम भजनका है। भजनीयके नाम अथवा रूपका प्रेमपूर्वक निरन्तर चिन्तन ही भक्ति है।

भक्तिके लक्षण—प्रह्लादजीने जो वर माँगा कि मुझे कभी कुछ इच्छा ही न हो, यही भक्तिका लक्षण है।

भक्ति-प्राप्तिका उपाय—भगवच्चिन्तन ही उसका प्रधान उपाय है, इसीसे प्रेम उत्पन्न होता है।

प्रेमी भक्त तो ज्ञानकी इच्छा ही नहीं करता। किन्तु ज्ञान-मिश्रा भक्तिमें ज्ञान और भक्ति मिले रहते हैं। श्रीरामायणमें ज्ञान-मिश्रा भक्ति है, शुद्धा या केवल भक्ति नहीं।

श्रीचैतन्य महाप्रभुने भक्तिका लक्षण इस श्लोकमें बतलाया है—

अनन्यममता विष्णोर्ममता प्रेमसंज्ञिता।
भक्तिरित्युच्यते भीष्मप्रह्लादोद्धवनारदैः॥

श्रीभगवान्‌में अनन्य ममताको ही भीष्म, प्रह्लाद, उद्धव और नारद आदिने प्रेम और भक्ति बतलाया है।

भक्तकी वाञ्छा यह होती है—भगवान् कहते हैं—

सालोक्यसार्ष्टिसामीप्यसारूप्यैकत्वमप्युत।
दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः॥

(भा० ३। २९। १३)

उन भक्तोंको मैं सालोक्य, सार्ष्टि, सामीप्य, सारूप्य और सायुज्य मुक्ति देता हूँ, परन्तु वे मेरी सेवाको छोड़कर उन्हें नहीं लेते।

सच्चिदानन्दघन परमात्माका भजन, ध्यान करनेसे ज्ञान हो ही जायगा। इसके लिये यत्नकी आवश्यकता नहीं, विश्वास चाहिये। जिसको विश्वास नहीं होता उसकी प्रवृत्ति ही नहीं होगी।

श्रीगीताजीके अध्याय ८। १४ के श्लोकमें सबसे बड़ा साधन

बतलाया है । इसको सब धर्म और सब मज़हबवाले मानेंगे । इसके अतिरिक्त और कोई साधन हो ही नहीं सकता ।

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः ।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः ॥

यह विश्वास रहना चाहिये कि प्रभु हमारी रक्षा करेंगे ही ! जीवकी ओरसे चिन्तन कर्तव्य है । प्रभुकी ओरसे कृपा होगी ही ! जितना-जितना चिन्तन बढ़ेगा, उतना-उतना ही आनन्द बढ़ेगा ।

निर्गुण-उपासकको प्रभुके दर्शन नहीं होते, क्योंकि वह सगुण-उपासनाको हेय समझ चुका है ।

सगुण-उपासकको निर्गुण-उपासनाका फल अवान्तररूपसे मिल ही जायगा; परन्तु उसे प्रभु-दर्शन और रसकी प्राप्ति अधिक है ।

ज्ञानकी जिज्ञासा अनेक जन्मके भजनसे होती है । भक्ति सुलभ है । कारण, उसमें 'करुणा-समुद्र' का आश्रय है, वही पार करेगा । कर्णधारं नमोऽस्तु ते ।

भक्तकी दशा वैसी है, जैसे नदीके पार जानेवाले यात्रीकी होती है, जो नावमें मल्लाहद्वारा सुखपूर्वक पार कर दिया जाता है ।

ज्ञानीकी दशा वैसी है जैसे कोई नदीको बिना नावके तैरकर पार करे और छः नक्रोंके खा जानेका डर भी हो । इसीलिये गीता, भागवत आदिमें ज्ञानको कठिन बतलाया है । श्रीमद्भागवतके चतुर्थ स्कन्धके अध्याय २२ में राजा पृथु और सनकादिके संवादमें यह ज्ञान और भक्तिके अन्तरका ही प्रसंग है ।

किसी प्रकारसे भी प्रेमकी पराकाष्ठापर पहुँच जाय, फिर कल्याण ही है।

उपासनाके विना चित्तकी शान्ति नहीं होती, मनोराज्य विचारसे नहीं हट सकता, वह तो उपासनासे ही शान्त होगा।

चित्तके चित्तत्वको हटाना ही होगा, इसके विना शान्ति नहीं। उपासनाके विना न शान्ति हुई, न होगी। ज्ञानीको भी विना उपासनाके शान्ति नहीं; किसी भी प्रकारसे नानात्वको उड़ाओ, यह नानात्व ही दुःख दे रहा है।

सच्चिदानन्दकी भावना सर्वत्र होनेसे किसी भी वस्तुका ध्यान कर सकते हैं। मनसे संसार निकलना चाहिये। सब चिन्मय है। इसलिये उपासना भी चिन्मयकी होनी चाहिये। चाहे वह व्रजलालाकी हो, चाहे और की हो। प्रभुकी लीला चिन्मय, ध्यान चिन्मय और लोक भी चिन्मय है। इसलिये चिन्मय प्रभुका ध्यान करना चाहिये। स्थूल दृष्टिका सदा-सर्वदा त्याग करना चाहिये, मनसे स्थूल दृष्टि हटानी चाहिये। गुरुको भी चिन्मय ही समझना चाहिये। श्रीमद्भागवतमें कहा है—

> खं वायुमग्निं सलिलं महीं च
> ज्योतींषि सत्त्वानि दिशो द्रुमादीन्।
> सरित्समुद्रांश्च हरेः शरीरं
> यत्किञ्च भूतं प्रणमेदनन्यः॥
>
> (११।२।४१)

आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, नक्षत्र, तेज, प्राणी,

दिशाएँ, वृक्षादि, नदियाँ, समुद्र एवं अन्य जो कुछ भी है सो सब भगवान् श्रीहरिका ही शरीर है—यह समझकर अनन्यभावसे सबको प्रणाम करना चाहिये ।

मैं और मेरा हटनेपर फिर सब चिन्मय हो जाता है ।

नामरूप नित्य है, भक्त जिस रूपसे प्रभुको चाहता है, वह उसी रूपसे उसे दर्शन देते हैं । किन्तु एक बात रहस्यकी है । अनेक भक्तोंने जिस रूपसे प्रभुकी उपासना की है, वही रूप उपासना करनेयोग्य है । कारण, इसमें उन भक्तोंकी शक्तिकी सहायता मिलती है । अर्थात् श्रीकृष्णरूपसे उपासना करनेवालेको पूर्वके सब भक्तोंकी शक्तिकी सहायता मिलेगी । इसलिये नवीन कल्पना ठीक नहीं है । रूप-समुद्रमेंसे जैसे चाहो, उसी प्रकार दर्शन होंगे ।

निष्ठा और मन्त्र ये दोनों एक और पक्के होने चाहिये, चाहें कोई भी निष्ठा हो ।

जो बात दिमागमें समा जाय, हर समय बुद्धिमें भरी रहे उसे निष्ठा कहते हैं ।

जिस मुहूर्त या क्षणके आधे भागमें भगवान् श्रीकृष्णका चिन्तन नहीं किया गया, वही सबसे बड़ी हानि, भूल, अन्धता, जडता तथा मूर्खता है ।

श्रीकृष्णका जन तभी हुआ जानो, जब संसार गौण और परमार्थ मुख्य हो जाय ।

परमार्थी वही है जिसको भगवान् मुख्य और संसार गौण हो जाय।

श्रीचैतन्य महाप्रभुने कहा है कि विषयकी उपस्थितिमें इन्द्रियों-की अप्रवृत्ति यानी उनमें अरुचि होना वैराग्यका लक्षण है। तथा विषयोंमें अरुचि तब होगी जब प्रभुमें पूर्ण रुचि होगी।

प्रभुका एक नाम वाञ्छाकल्पतरु भी है, फिर उपासकको भय क्यों होना चाहिये? सच्ची वाञ्छा होगी तो प्रभु पूरी करेंगे ही।

स्नेहमें स्मरण बना रहना चाहिये। भगवान्‌का पूरा-पूरा आश्रय रहे।

दुःख प्रभुकी ओर लगन लगानेमें सहायक है।

दुःख प्रभुप्राप्तिका साधन है। प्रभुकी याद जैसी दुःखमें आती है, सुखमें वैसी नहीं आ सकती। सुखमें जीव भूल जाता है। माया न होती तो ज्ञान होता ही नहीं। मायाकी कृपासे ही प्रभुकी प्राप्ति होती है। सब कुछ जीवके कल्याणके लिये ही है।

भगवत्प्रेम स्वाभाविक ही सबमें है; परन्तु वह रजोगुण-तमोगुणसे ढका हुआ है।

प्रियतम प्रभु चाहे नरकमें भेजे या और कहीं भेजे, प्यारेकी वस्तु तो प्यारी लगनी ही चाहिये। प्रभु प्राणोंसे भी अधिक प्यारे हैं।

कीर्तनमें एकाग्रता उत्पन्न होती है। शब्दमें रूपके समान ही आकर्षणशक्ति है। इसलिये प्रभु श्रीकृष्णने वंशी और रूप दोनोंसे ही सबको वश किया था। मिलकर कीर्तन करनेसे तुमुल

ध्वनि होती है और उससे एकाग्रता होती है। दूसरी बात यह है कि सब कीर्तन करनेवालोंमेंसे एकका भी चित्त सत्त्वगुणमें होगा तो सबका चित्त सत्त्वगुणमें हो जायगा। पहले कीर्तनद्वारा चित्तकी एकाग्रता लाभ करनेपर प्रभुका ध्यान होगा।

मनुष्य-शरीर बहुत ही गन्दा है, पर इसमें एक गुण है, वह यह कि हम उपासनाद्वारा दिव्य शरीरकी प्राप्ति कर सकते हैं। मनुष्य-शरीरको छोड़कर और किसी शरीरमें यह गुण नहीं।

उपासनामें विघ्न इसीलिये आते हैं कि हमारा उसमें पूरा आग्रह नहीं होता, जब हमारी उसमें पूरी आसक्ति होगी, तब हमें कोई भी विघ्न विचलित नहीं कर सकेगा।

उपासनामें सबसे बड़ा विघ्न अपने कियेका अभिमान है। अभिमानवश हम दूसरोंका अपमान कर बैठते हैं, अपनेसे दूसरोंको छोटा समझते हैं। यही सबसे बड़ा पाप है, इससे सारा किया-कराया नष्ट हो जाता है।

अपनी निष्ठामें तो पूर्ण श्रद्धा होनी चाहिये। परन्तु दूसरोंकी निष्ठाकी कभी निन्दा नहीं करनी चाहिये।

प्रकृति या जगत्‌के सत्यासत्यके निर्णयके लिये तर्क अपेक्षित है; किन्तु भगवद्भक्तिके लिये नहीं। भक्तितत्त्वके लिये पूर्ण श्रद्धा और पूर्ण विश्वास ही आवश्यक है। भक्तितत्त्व ही परमतत्त्व है। इस परमतत्त्वकी प्राप्तिके लिये अपनेको पूर्णरूपेण समर्पण करना होगा। रागद्वेषरहित जीवनमें ही भक्तितत्त्वके भाव जागृत होते हैं। जो

व्यक्ति निन्दा, स्तुति, पैशुन्य (चुगली), परस्त्रीगमन और परद्रव्यसेवनसे युक्त है, वह भक्तितत्त्वसे बहुत दूर है।

भगवान् परिपूर्ण हैं, हमें उनसे प्रेम करना चाहिये। ज्ञानमें सुख नहीं, सुख तो प्रेममें ही है। जैसे किसी बहुत बड़े धनीको केवल जान लेनेसे कोई सुख नहीं मिलता, सुख तो उससे प्रेम हो जानेपर ही मिलता है, भगवान्‌को जान लेनेका नाम ज्ञान है और उनसे प्रेम हो जाना ही भक्ति है। इसीको अभ्यास, योग अथवा चिन्तन भी कहते हैं।

चित्तका विकार तभी जा सकता है जब कि शरीरमात्रको मलमूत्रका थैला समझा जाय।

जबतक चित्त लीन नहीं होता तबतक क्रियाके सम्बन्धसे विकार हुए बिना नहीं रह सकता। चित्त लीन हो जानेपर फिर जो क्रिया होती है वह केवल लीलामात्र होती है; उसमें आस्था न रहनेके कारण कोई विकार नहीं होता।

रासलीला आदि देखनेका अधिकारी वही हो सकता है जिसने अपने चित्तको लीन करके उसपर पूर्ण विजय प्राप्त कर ली हो अन्यथा उसमें लौकिक बुद्धि हुए बिना नहीं रह सकती।

भक्ति भगवत्कृपासे ही प्राप्त होती है, उसमें अपना पुरुषार्थ काम नहीं देता—यह ठीक है; किन्तु भगवत्कृपा तभी हो सकती है जब कि हम भगवान्‌की ओर लगें—बिना भगवान्‌की ओर लगे उनकी कृपा नहीं हो सकती।

ध्यान-निष्ठामें सांसारिक वस्तुओंकी इच्छा और काम-क्रोधादि उद्वेग बहुत बड़े विघ्न हैं; इसलिये इनसे सर्वदा बचना चाहिये ।

जबतक भोग और मोक्षकी इच्छा रहती है तबतक वास्तविक भक्ति नहीं होती, भक्त कभी मोक्षकी कामना नहीं करता ।

राग, द्वेष और भय—ये तीनों मुक्तिके भी कारण हैं और बन्धनके भी । यदि भगवान्‌में हों तो मुक्तिके कारण होते हैं और संसारमें हों तो बन्धनके ।

तमोगुण और रजोगुणमें पूर्ण सुख नहीं है; पूर्ण सुख तो सत्त्वगुणमें ही है । इसलिये सत्त्वगुण बढ़ानेका प्रयत्न करना चाहिये । विचारकर देखा जाय तो काँच भी मिट्टी ही है, तथापि काँचके मकानमें बैठकर देखनेसे बाहर-भीतरकी सभी वस्तुएँ दिखलायी देती हैं और मिट्टीके मकानमें कुछ भी नहीं दीखता । इसी प्रकार तीनों गुणोंमेंसे रज और तम मिट्टीरूप हैं तथा सत्त्व काँचरूप है ।

प्रणव या राम, कृष्णादि नामोंमेंसे किसीका भी जप किया जाय परन्तु उसीमें तन्मय हो जाना चाहिये ।

स्तुति और निन्दा दोनों ही उपासना है, स्तुतिमें उपासककी दृष्टि उपास्यके गुणोंपर रहती है इसलिये वह गुणोंको ग्रहण करता है और निन्दामें अवगुणोंपर, इसलिये वह अवगुण ग्रहण करता है ।

इन चारोंको एक-सा समझो—१ माला, २ मन्त्र, ३ गुरु, ४ इष्टदेव । अगर इनमें एक भी चले जायँ तो वह व्यभिचारी हो जाता है । मालाको प्राणोंसे भी प्यारी समझो । माला भगवत्-स्वरूप है ।

जिस पुस्तकमें हम नित्य पाठ करते हैं तथा जिस मालासे हम नित्य जप करते हैं उसमें एक प्रकारकी शक्ति पैदा हो जाती है। पहले लोग माला, पुस्तकको बड़ी अच्छी तरह रखते थे। आज-कल मालाको जल्दी-जल्दी बदलते रहते हैं, प्रेम-प्राप्ति कहाँसे हो? हमारे यहाँ एक शक्तिपल्लव नामक पुस्तक बड़ी प्राचीन थी। एक बंगालीसे मैंने माला माँगी, उसने मुझसे कहा कि महाराज! यह तो हमारी प्राणोंसे भी प्यारी है। माला हम किसीको नहीं देते हैं। एक मालाको हमारे बाबा परबाबा भी जपते थे वह जब बिल्कुल घिस गयी, तब हमने गङ्गामें बहायी। स्वामी बंगालीबाबा भी जिस समय पाञ्चभौतिक शरीरको त्यागने लगे तो उन्होंने स्वामी शान्तानन्दजीसे कहा था कि मेरी छातीसे मेरी गीता बाँधकर तब मुझे गङ्गामें बहाना। ऐसा ही किया गया।

जो विषयोंका प्रेमी होगा वह श्रीकृष्णका प्रेमी नहीं होगा और जो श्रीकृष्णका प्रेमी होगा वह विषयोंका प्रेमी नहीं होगा। विश्वास करो, विश्वाससे ही सब कुछ होता है, बिना विश्वास तो कुछ भी नहीं हो सकता।

ये चार बातें बड़े ही भारी पुण्यसे प्राप्त होती हैं—

(१.) भगवद्भक्तोंमें प्रेमका होना, (२) भगवन्नाममें प्रेम होना, (३) भगवद्विग्रहमें प्रेम होना और (४) भगवत्-प्रसादमें प्रेम होना।

भक्तके लक्षण

प्र०—भक्तके क्या लक्षण हैं ?

उ०—१. क्रोधरूपी शैतानसे दूर रहना, २. किसी भी स्त्रीके साथ एकान्तमें बात न करना, ३. हमेशा एकान्तवासमें प्रेम होना, ४. कम बोलना, ५. सवेरे ३ बजेसे ५ बजेतक भगवद्भजन करना। भक्तोंका मुख्य साधन भजन है।

वेद पुरान संत मत एहू। सकल सुकृत-फल रामसनेहू॥

प्र०—भगवत्-प्रेमी किसे कहते हैं ?

उ०—जो षडैश्वर्ययुक्त भगवान् श्रीकृष्णमें प्रेम करता है उसे प्रेमी कहते हैं।

प्र०—प्रेमी क्या चाहता है ?

उ०—इहलोक, परलोक और अणिमादि सिद्धियाँ, इन तीनोंको त्यागकर जो केवल भगवदासक्त है उसीका नाम भगवत्प्रेमी है, वह कुछ भी नहीं चाहता।

२. प्रेमीके अन्दर काम, क्रोध, लोभ, मोह, ईर्ष्यादि रहते ही नहीं, वह तो प्रेममें मग्न रहता है। प्रेम मन-वाणीका विषय नहीं है, प्रेममें शास्त्रका प्रवेश नहीं है—

> प्रेमी छुटिया प्रेमकी, और न जानै सार।
> नारायण बिन जौहरी, जैसे लाल बजार॥

३. प्रेमी भगवान्‌के ऐश्वर्यको भुला देता है अर्थात् भगवान् अपने ऐश्वर्यको प्रेमीके सामने भूल जाते हैं। जैसे कि ग्वाल-बालोंके साथ ऐश्वर्यको भूल गये थे। यहाँतक कह दिया कि मैं तुम्हारा ऋणिया हूँ। भक्त एकनाथजीके घर आपने बारह सालतक जल भरा, नामदेवकी छान छवायी।

प्र०—महाराजजी! बहुत-से विद्वान् लोग भगवन्नाम नहीं जपते?

उ०—भगवत्कृपा बिना श्रीभगवन्नाम नहीं लिया जाता और न उसमें प्रीति ही होती है।

एक और महात्मा व्रजमें मिले, उन्होंने मुझे भक्तोंके लक्षण बतलाये जिनको मैंने उड़ियाभाषामें डायरीमें लिख लिया था।

१. सबसे दीन भावसे बर्ताव करना, २. निष्कपटताका व्यवहार होना, ३. सत्यभाषण करना, ४. सब चराचर जगत्‌का आधार भगवान्‌को समझना, ५. भगवान्‌को तन, मन, धन सब अर्पण करना, ६. भगवान्‌को पूर्ण श्रद्धेय समझना, ७. हमेशा भगवान्‌के अधीन रहना, ८ भगवान्‌को आराध्यदेव समझना,

९. अनन्यभावसे श्रीभगवान्‌का चिन्तन करना, १०. अपने स्वरूपको कभी न भूलना।

किसी भी तीर्थमें क्यों न रहा जाय, यदि भगवान्‌का गुणानुवाद, भगवच्चिन्तन न हो तो कल्याण होना असम्भव है।

जो भगवान्‌का भक्त होगा, वह बीड़ी, हुक्का, सिगरेट, सुल्फा, तंबाकू, भाँग आदि नशीली तमोगुणी वस्तु नहीं खाये-पीयेगा। क्योंकि भक्त जो कुछ भी खाये-पीयेगा, अपने भगवान्‌को अवश्य अर्पण करेगा, फिर भला भक्त ऐसी तमोगुणी शास्त्रविरुद्ध वस्तुओंको क्योंकर भगवान्‌के भोग लगावेगा?

भक्त वही है जो भगवन्नामजपको ही अपना धन मानता है और जिस प्रकार सांसारिक लोग धन कमानेमें लगे रहते हैं उसी प्रकार जो भगवन्नामके ही बटोरनेमें लगा रहता है।

भक्त वही है जो आप भी श्रीकृष्ण-कीर्तन करता है और दूसरोंको भी इसका उपदेश करता है।

भक्त वही है जो सांसारिक पुस्तकोंको या सांसारिक समाचारपत्रोंको न पढ़कर श्रीकृष्णप्रेमसे भरी हुई पुस्तक या भक्तोंके चरित्र पढ़ना पसन्द करता है; जैसे 'श्रीचैतन्यचरितावली', 'रामायण', 'कल्याण', 'संकीर्तन' आदि।

भक्त वही है जो संत-महात्माओं और भक्तोंके वचनोंमें विश्वास रखता है।

भक्त वही है जिसकी जिह्वापर हर समय श्रीकृष्ण, श्रीराम, या श्रीशिवका पवित्र नाम फिरता रहता है।

भक्त वही है जो किसीके दिलको नहीं दुखाता, बल्कि जहाँतक बने सबकी सेवा करता है।

भक्त वही है जिसने अपनी इन्द्रियोंको अपने वशमें कर लिया है।

भक्त वही है जो भगवान् श्रीकृष्णसे सांसारिक चीजोंको न माँगकर बस यही माँगता है कि मैं आपके प्रेममें मस्त रहूँ।

भक्त वही है जो बोतलकी शराब, जिससे कि दो-चार घंटे ही नशा रहता है, न पीकर श्रीकृष्णप्रेमरूपी रस पीता है। जिसका नशा कभी उतरता ही नहीं।

भक्त वही है, जो श्रीकृष्ण मेरे हैं और मैं श्रीकृष्णका हूँ ऐसा समझकर विपत्तिकालमें किसी भी आदमीकी सहायता नहीं माँगता।

भगवान्का सच्चा भक्त वही है जो सब जगह भगवान्को देखता है। भगवान्से अधिक अथवा भगवान्के बाहर कोई भी वस्तु नहीं है। सब कुछ जड़, चेतन, मनुष्य, पशु, पक्षी भगवान् ही हैं। फिर तुम किसीको क्यों बुरा कहोगे? क्या तुम भक्त होकर भगवान्को गाली दोगे? यदि तुम दूसरे किसीको बुरा कहते हो तो अपने ही भगवान्को बुरा कहते हो। इससे बढ़कर राग-द्वेषको मिटानेकी कोई और औषध नहीं है।

भक्तको तो भगवान्की मूर्तिके विषयमें ऐसी धारणा होनी चाहिये कि यह साक्षात् भगवान् ही हैं। यह तो आर्यसमाजी

भी कह देंगे कि ईश्वर सर्वव्यापी होनेके कारण मूर्तिमें भी है। यदि उपासककी ऐसी ही दृष्टि हो तो उसकी विशेषता ही क्या रही।

भगवान्‌के भक्तोंमें यों तो अनेक सद्गुण रहते हैं, परन्तु उसे दो बातोंका विशेषरूपसे ध्यान रखकर चलना चाहिये। एक तो उसे सहिष्णु होना आवश्यक है। लोग उसे बुरा कहेंगे, उसकी हँसी उड़ायेंगे, उसपर नाना प्रकारके कटाक्ष करेंगे; किन्तु यदि उसने अपना कार्य छोड़कर उनसे लड़ना आरम्भ कर दिया तो उनकी जीत और उसकी हार होगी। बिना इस गुणके आये आध्यात्मिक उन्नतिका केवल स्वप्न देखनामात्र हो सकता है। हाथ कुछ भी नहीं लगता अतः भक्तको शान्त रहकर शक्तिका सञ्चय करना चाहिये, और उसे सर्वदा दूसरेका शुभ चिन्तन करना चाहिये। दूसरी बात भगवान्‌के नाममें श्रद्धा हो। भगवान्‌में श्रद्धा और उनके नामकी शक्तिमें श्रद्धा जितनी अधिक होगी उतना ही मन अधिक सबल और निर्मल होगा। भगवन्नामसंकीर्तन जितना हो सके श्रद्धा-विश्वासपूर्वक करते रहना चाहिये। भगवान् अपनी कृपा करनेमें देरी नहीं करेंगे।

वन्दनीय भक्त

अन्य समस्त कार्य छोड़कर जो सर्वदा एकमात्र भगवान्का ही अवलम्बन करता है, एकमात्र भगवान्की ही सेवा-पूजामें तन-मन-धनसे निरन्तर नियुक्त रहता है, वह भक्त नमस्कार-योग्य है।

जो भगवान्में समस्त लोक और समस्त लोकोंमें भगवान्का दर्शन करता है, जो सर्वत्र समानबुद्धि रखता है और सर्वभूतोंमें प्रेम रखता है, वह भक्त नमस्कार-योग्य है।

जिसको अपने और परायेका भेद नहीं है, जिसको इच्छा, द्वेष और अभिमान नहीं है तथा जो सर्वदा पवित्र एवं भगवान्में दत्तचित्त है वह भक्त नमस्कार-योग्य है।

जिसका मन सम्पत्ति-विपत्तिमें भगवान्को छोड़कर अन्यत्र कहीं नहीं जाता, जो सर्वदा सत्यवादी एवं सदाचारपरायण है, वही भक्त नमस्कार-योग्य है।

जो प्रपञ्चसे विमुख है, विचारयुक्त है, एकान्तसेवी है, तथा भगवत्परायण है, वही भक्त नमस्कार-योग्य है।

जो भगवान्का सर्वत्र दर्शन करता है, जिसको संसारसे अभय प्राप्त है, जो अन्य प्राणियोंको अभय प्रदान करता है, जो संसारसे उदासीन है तथा जो आश्रम-धर्ममें कुशल है, वही भक्त नमस्कार-योग्य है।

जिसको प्रेमका ही अवलम्बन है, जिसने मत-मतान्तरको उल्लङ्घन किया है और जिसका हृदय प्रेममय है, वही भक्त नमस्कार-योग्य है।

जो सर्वदा चातककी नाईं एकनिष्ठ है, सर्वदा लक्ष्मणकी नाईं स्वतन्त्रतासे रहित है, सर्वदा द्वन्द्वों अर्थात् शीतोष्ण और रागद्वेषसे परे है एवं सन्तुष्टचित्त है, वही भक्त नमस्कार-योग्य है।

जो भगवान्के अतिरिक्त और किसीको नहीं जानता और न किसीको चाहता है, जिसका मन स्थिर है और जो संयमी है, वही भक्त नमस्कार-योग्य है।

जो भगवान्‌को इसी शरीरसे प्राप्त कर लेता है, जिसका भगवान्‌के चिन्तनमें ही समय व्यतीत होता है वही भक्त नमस्कार-योग्य है।

जिसने भगवान्‌को जो कि एकमात्र सत्य वस्तु हैं, आत्म-समर्पण किया है, वही नमस्कार-योग्य है।

ऐसे भक्तराजके दर्शन, प्रणाम और सेवा करनेवालेका जीवन धन्य है। ऐसे भक्तकी कृपासे प्रेमकी वृद्धि और कामनासे रहितता होती है। भक्तका हृदय ही भगवान्‌का विलास-स्थान है। भक्तके हृदयसे भगवान्‌का स्वरूप और भगवान्‌की महिमा प्रकाशित होती है। ऐसे भक्तको त्यागकर और किसका संग करे? भक्त सम्पत्ति, सिद्धि, अथवा कैवल्यमुक्ति नहीं चाहता; वह सर्वस्व त्याग देता है और सम्पूर्णरूपसे भगवान्‌में विलीन होता है। अर्थात् आत्म-विसर्जन करता है। भगवान्‌में आत्माकी आहुति प्रदान करना सर्वश्रेष्ठ यज्ञ है, यही परम पुरुषार्थ है। जो जिस पदार्थको चाहता है, वह उसीको प्राप्त करता है। जो कुछ भी नहीं चाहता वह श्रीभगवान्‌को प्राप्त करता है। भक्तका धन केवल श्रीकृष्णके चरणकमल हैं और वह केवल भगवान्‌की कृपासे ही प्राप्त होता है।

संतमहिमा

प्र०—महापुरुष या महात्मा किसे कहते हैं ?

उ०—जिनके अन्दर दैवी सम्पत्ति और भगवत्प्रेम पूर्णरूपसे हो, जिनकी दृष्टि विना ही अवलम्बके स्थिर हो, जिनके प्राण विना प्राणायामके ही स्थिर हों और जिनका मन विना अवलम्बके स्थिर हो।

प्र०—महापुरुषकी पहचान कैसे होती है ?

उ०—महापुरुषोंकी पहचान और भगवान्‌की पहचान एक ही है। काम-क्रोधादियुक्त मनुष्य तो महापुरुष हो नहीं सकता। भगवान्‌की पूर्ण पहचान होनेसे ही महापुरुषोंकी पहचान होती है।

प्र०—उनके पहचाननेका सरल उपाय क्या है ?

उ०—मान, क्रोध और धनका त्याग ही मैंने मुख्य समझा है, इनका त्याग होनेसे कामादि विकार स्वतः नष्ट हो जायँगे।

एक विरक्त महापुरुष होते हैं, दूसरे गृहस्थ महापुरुष होते हैं। गृहस्थ महापुरुष अन्यायोपार्जित धनके त्यागी होते हैं और विरक्त धनके सर्वथा त्यागी होते हैं। मान और क्रोधका त्याग दोनोंमें ही होता है।

प्र०—महापुरुषोंमें काम-क्रोध रहते हैं या नहीं?

उ०—लेशमात्र भी काम-क्रोध नहीं रहते। उनमें काम-क्रोधका अत्यन्ताभाव होता है; पर दूसरे पुरुषोंको उनमें आभास दीख सकता है। उनमें काम-क्रोध क्यों नहीं होते? इसीलिये कि वे सम्पूर्ण विश्वको भगवान्की लीला तथा भगवद्रूप देखते हैं, अथवा अपना आत्मस्वरूप देखते हैं। दोनों प्रकारसे ही उनमें काम-क्रोधादि नहीं होते—

उमा जे राम-चरन-रत, बिगत काम मद क्रोध।
निज प्रभुमय देखहिं जगत, कासन करहिं बिरोध॥

प्र०—महापुरुषके समीप रहनेमात्रसे ही कल्याण हो जाता है या कुछ करना भी पड़ता है?

उ०—जो महापुरुषोंके समीप रहेगा वह तो सभी साधन करेगा, उसमें क्या बाकी रहेगा? क्योंकि उनके समीप रहनेवालेसे पापकर्म तो स्वतः ही छूट जायँगे, निरन्तर सत्संगकी बातें सुननेसे उससे साधन भी कुछ-न-कुछ बनेंगे ही। महापुरुषोंका सत्संग एक प्रकारसे भजन ही है। जिस वासना (कामना) को लेकर उनके समीप रहेगा, उसीकी उसे प्राप्ति होगी। यदि वह महा-पुरुषमें सचमुच प्रेम करता है तो और कुछ भी करनेकी

आवश्यकता नहीं है। केवल उनमें जो प्रेम है वही सब कुछ करा लेगा।

प्र०—महापुरुषमें अपनी शक्तिके अनुसार विश्वास होनेपर भी उनके संगसे जैसा लाभ होना चाहिये वैसा क्यों नहीं होता?

उ०—श्रद्धाकी कमीके कारण नहीं होता।

प्र०—श्रद्धा कैसे हो?

उ०—निष्काम कर्म और भजन करनेसे महापुरुषोंमें और परमात्मामें श्रद्धा होगी।

प्र०—भगवद्दर्शन संत-कृपासे हो सकते हैं या नहीं?

उ०—यद्यपि भगवद्दर्शन कृपासाध्य है तथापि ऐसे महात्मा प्रायः देखनेमें नहीं आते। हाँ, शास्त्रोंमें इसके अनेक प्रमाण मिलते हैं, इसलिये भगवद्दर्शन तथा भगवत्प्राप्तिके लिये चार उपाय ये भी हैं—(१) श्रद्धा, (२) सत्संग, (३) भजनक्रिया और (४) पाप तथा दुर्गुणोंका त्याग। भगवान्‌में आसक्ति होनेसे विषयोंमें वैराग्य होगा। भगवान्‌में आसक्ति हुए बिना विषयोंसे वैराग्य नहीं हो सकता, चाहे कोई परमहंस या दिगम्बर ही क्यों न हो जाय। भगवत्प्राप्तिके लिये भगवान्‌में आसक्ति करनी चाहिये। उनमें आसक्ति होनेका मुख्य उपाय है उनका चिन्तन। वह चिन्तन भी चार प्रकारसे होता है—(१) उनके नामका जप, (२) उनके स्वरूपका ध्यान, (३) उनके गुणोंका श्रवण और कथन अर्थात् सत्संग तथा (४) उनकी पूजा और सेवा। इन साधनोंका निरन्तर तीव्र अभ्यास होनेसे भगवान्‌में आसक्ति हो सकती है।

प्र०—भक्तोंके दर्शनसे क्या लाभ है ?

उ०—भगवद्भक्तोंके दर्शनसे पापके परमाणु दूर होते हैं यह बड़े-बड़े वैज्ञानिकोंका सिद्धान्त है। प्रत्यक्षमें भगवद्भक्तोंके दर्शनसे भगवान्‌के गुण सुननेमें आते हैं। गुण श्रवण करनेसे भगवान्‌में श्रद्धा-प्रीति बढ़ती है। सब महापुरुषोंका भी यही सिद्धान्त है कि ईश्वर सृष्टि रचकर जीवोंको सुख-दुःख भुगाता है और जीव भोगते हैं; क्योंकि ईश्वर जगत्‌का कर्त्ता है। भगवद्भक्त संसारका प्रेम छुड़ाकर भगवान्‌में प्रेम कराते हैं, इसलिये भक्त भगवान्‌के प्यारे हैं।

प्र०—बाबा कृपा करके बताइये कि प्यारे श्रीकृष्णका दर्शन किस प्रकार हो सकता है।

उ०—संसार दुःखमय प्रतीत होनेसे जब प्राणी भगवद्भक्तोंकी शरणमें जाता है तो उन भगवद्भक्तोंमें प्रेम होनेसे स्वाभाविक उसका भगवान्‌में प्रेम हो जाता है। भगवान्‌की कृपासे उसे भगवान्‌का दर्शन होता है। मुख्यतः भगवान् और भक्तोंकी ही कृपा मुख्य साधन है।

तुलसीदासजी कहते हैं—

निष्किञ्चन इन्द्रियदमन, रामरमण इकतार।
तुलसी ऐसे संतजन, विरले या संसार॥

संत-महात्माओंकी सेवासे यह फल होता है कि उनके शुद्ध परमाणु निकलकर सेवा करनेवालेके अन्दर चले जाते हैं और

पापी मनुष्यकी सेवा करनेसे पापके परमाणु भीतर जाते हैं। इसलिये पापीकी सेवा न कर महात्माओंकी करनी चाहिये।

एक बारकी बात है। मैं एक बूढ़े विद्वान् पण्डितके घर भिक्षा करने गया। भिक्षा पा लेनेके उपरान्त मैंने पण्डितजीसे कहा—'पण्डितजी! आप वृद्ध हो गये, घरमें पुत्र-पौत्र सभी हैं। घरकी कोई चिन्ता नहीं। अब आप कहीं श्रीगंगा-तटपर एकान्त और शान्त स्थानमें निवास करें।'

पण्डितजीने कहा—'गंगा कहती हैं,—जिसने परस्त्री, परद्रव्य, परनिन्दासे अपनेको पृथक् रक्खा है, उसके लिये मैं प्रतीक्षा करती रहती हूँ, अपनेको पवित्र करनेके लिये।'

× × × × ×

गंगाजीका माहात्म्य बहुत विचित्र है। एक बारकी बात है। गंगाजीने भगीरथसे कहा—'श्रीमन्! मैं पुण्यकी सदैव प्यासी रहती हूँ, कलियुगमें पापकी ही प्रधानता रहेगी तो बताइये मैं क्या करूँगी?'

भगीरथने कहा—'तुम्हारे दिव्य तटपर घोर कलियुगमें भी विरक्त, विद्वान्, भक्त, तत्त्वदर्शी विचरण करते रहेंगे। इससे तुम्हारा तट सदैव पवित्र रहेगा। वे तुममें स्नान करेंगे; इससे तुम पवित्र रहोगी।'

संतोंकी महिमा अपार है, एक जगह कहा है—

द्विधा वेधा भ्रमं चक्रे कान्तासु कनकेषु च।
तासु तेषु विरक्तो यः साक्षाद्भर्गो नराकृतिः॥

विधाताने भ्रमको स्त्री और सुवर्ण इन दोनोंमें बाँट दिया है अतः इन दोनोंमें जिसे राग नहीं है वह मनुष्यरूपमें साक्षात् भगवान् है ।

ज्ञानयोगपराणां तु पादप्रक्षालितं जलम् ।
भावशुद्ध्यर्थमज्ञानां तत्तीर्थं मुनिपुङ्गव ॥

हे मुने ! ज्ञानयोगपरायण पुरुषोंके पादप्रक्षालनका जो जल है वह अज्ञानियोंकी भावशुद्धिके लिये तीर्थ है ।

यद्यत्स्पृश्यति पाणिभ्यां यद्यत्पश्यति चक्षुषा ।
स्थावराण्यपि मुच्यन्ते किं पुनः पामरा जनाः ॥

महात्मा जिस-जिसको हाथोंसे छू देते हैं जिस-जिसको आँखोंसे देख लेते हैं वे स्थावर जीव भी बन्धनसे छूट जाते हैं; तो फिर पामर जनोंका क्या कहना है । (वे तो पापमुक्त हो ही जायँगे ।)

साधुओंमें चार बातें नहीं देखनी चाहिये—

(१) साधु गोरा है या काला ।

(२) किस जातिका है ।

(३) कितनी आयुका है ।

(४) कुछ पढ़ा है या नहीं । क्योंकि भगवान्‌की भक्तिमें गोरा या काला हो, किसी जातिका हो, छोटा हो या बड़ा और विद्वान् हो या निरक्षर इनमेंसे कोई बात नहीं देखी जाती ।

सत्संग

प्र०—सत्संग किसे कहते हैं ?

उ०—सत्पुरुष या सत्—परमात्माके संगको सत्संग कहते हैं। सत्—परमात्माका संग होनेके लिये हमें उसका संग करनेकी आवश्यकता है कि जो परमात्माके मार्गमें तत्पर है—तत्परायण है, जिसने परमात्माकी प्राप्ति कर ली है या जो उसकी प्राप्तिके लिये प्रयत्नशील है। ऐसे सिद्ध या साधकोंके संगको सत्संग कहते हैं।

प्र०—सत्संग क्यों करना चाहिये ?

उ०—सत्संग करनेसे भगवत्प्राप्तिका मार्ग दिखलायी पड़ता है। जिस मार्गसे सत्पुरुष गये हैं, उनका संग किये बिना भगवत्प्राप्तिका

मार्ग हमें नहीं मिल सकता। जो भगवान्‌के पास गये हैं, उनके पास रहे हैं वे ही मार्ग बता सकते हैं। जिनको प्राप्ति हो गयी है, ऐसे सिद्ध पुरुषोंको भी सत्संग करना चाहिये। साधकको तो प्राप्तिका मार्ग देखनेके लिये और भगवान्‌का स्वरूप जाननेके लिये सत्संग करना चाहिये। सिद्ध पुरुषोंको सत्संगमें अपने प्यारेका चिन्तन होता है इसलिये उन्हें भी सत्संग करना चाहिये।

प्र०—सत्संग करनेसे क्या लाभ है?

उ०—सत्संग करनेसे दिनों-दिन हमारी भगवान्‌में आसक्ति बढ़ती है, जिस चीजका निरन्तर चिन्तन होगा, उसमें आसक्ति बढ़ेगी इसलिये सत्संग करना चाहिये।

प्र०—सत्संग न करनेसे क्या हानि है?

उ०—भजन तो एकान्तमें भी कर सकते हैं परन्तु काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि दोष सत्संग किये बिना दूर नहीं हो सकते। सत्संगमें इन्हींके नाशके सम्बन्धकी बातें होती हैं। इसलिये सत्संगमें जानेसे अवगुण छोड़नेकी इच्छा होती है, फिर चेष्टा करनेसे अवगुण छूटते हैं। बिना सत्संग किये बहुत भजन करनेवालोंके भी दोष प्रायः नहीं छूटते और जो सत्संग करेगा वह भजन अवश्य करेगा। सत्संग करेगा उसके पाप नहीं छूटेंगे, यह असम्भव है? सत्संगमें एक बिजली है, उस वायुमण्डलमें बैठ जानेमात्रसे ही अन्तःकरण पवित्र हो जाता है क्योंकि वहाँका वायुमण्डल ही पवित्र है, इसलिये सत्संगकी निन्दा करनेवाले भी वहाँ जाने लगनेपर पवित्र हो जाते हैं और धीरे-धीरे वे भी भगवत्परायण होते

हैं। सत्संगकी महिमाका कोई वर्णन ही नहीं कर सकता। सत्संगसे महापुरुषोंमें प्रीति होगी। कुछ भी न करके केवल सत्संगमें जाकर बैठ ही जाय तो उसको भी लाभ होता है।

प्र०—सत्संग करनेका कौन अधिकारी है ?

उ०—मनुष्य ही नहीं, जीवमात्र इसके अधिकारी हैं। मुसलमान, ईसाई, यहूदी, चाण्डाल आदि सभी सत्संग कर सकते हैं क्योंकि इसके सभी अधिकारी हैं। जब चूहे, बिल्ली, कुत्ते, तोता, पक्षी आदि भी पवित्र हो जाते हैं, तब मनुष्योंकी तो बात ही क्या है ?

प्र०—सत्संग करनेवालोंसे पाप-कर्म क्यों नहीं छूटते ?

उ०—यह बात वे ही लोग कह सकते हैं जो सत्संगमें नहीं जाते। क्योंकि पापका कितना भण्डार भरा पड़ा है, उसमें कितना कम हुआ है—यह सत्संग करनेवाला ही जान सकता है। सत्संगमें प्रतिदिन अनन्त पाप क्षीण होते हैं—यह जो लोग सत्संगमें नित्यप्रति जाते हैं उनका अनुभव है। हम चाहते हैं, जल्दी पाप नाश हो जाय, पर पापकी कमी क्रमशः होती है। इसीसे पापोंका पूरा नाश नहीं प्रतीत होता।

प्र०—सत्संग पुरुषार्थसे मिलता है या भाग्यसे ?

उ०—भक्तोंका यही सिद्धान्त है कि सत्संग भगवत्कृपासे मिलता है। पुरुषार्थवादी कहते हैं कि वह पुरुषार्थसे मिलता है। किन्तु इसमें भगवत्कृपा ही प्रधान है।

प्र०—यदि भगवत्कृपासे सत्संग मिलता है तो फिर पुरुषार्थ क्यों करना चाहिये ?

उ०—प्रभुकृपासे हमें कोई खजाना मिल जाय तो उसकी रक्षा करनेके लिये भी कुछ परिश्रम करनेकी आवश्यकता है, यह पुरुषार्थ भी भगवत्कृपासे ही होता है। भक्त तो भगवत्कृपाके सामने पुरुषार्थको कोई चीज नहीं मानता। सत्संगमें जानेके लिये पुरुषार्थकी आवश्यकता है; पर पुरुषार्थ वही करेगा जिसमें कि कृपाका अङ्कुर होगा। बिना कृपाके सत्संगमें कोई पैर भी नहीं रक्खेगा।

प्र०—सत्संग मिलनेके लिये क्या उपाय करना चाहिये ?

उ०—प्रभुसे या भक्तसे प्रार्थना करनी चाहिये। भक्त और भगवान् एक ही हैं।

प्र०—सत्संगमें प्रीति कैसे बढ़े ?

उ०—प्रतिदिन सत्संग करनेसे सत्संगमें प्रीति बढ़ती है। एक दिन गये और चार दिन नहीं गये इससे प्रीति नहीं बढ़ती।

प्र०—सत्संग करनेपर भी लोग सत्संगके परायण क्यों नहीं होते ?

उ०—वे नियमपूर्वक नित्यप्रति निरन्तर सत्संग नहीं करते। जो वैसा करते हैं वे परायण हो जाते हैं।

प्र०—महात्माकी परीक्षा करनेके लिये सत्संग करनेसे भी लाभ है या नहीं ?

उ०—परीक्षाके लिये करनेमें भी लाभ है, क्योंकि वह सत्संगमें जाता है और महात्मा भी उसके लिये भगवान्से प्रार्थना कर सकते

हैं कि इसकी भी आपमें प्रीति हो। नहीं तो, सत्संगकी महिमा भी क्या रहेगी?

प्र०—सत्संग दम्भ या मानवृद्धिके लिये करनेसे भी लाभ होता है या नहीं?

उ०—लाभ ही है, पहले-पहले यह सब नक़ली होता है; पीछे धीरे-धीरे सब दोष दूर हो जाते हैं। पहले नकल होती है पीछे वह असल हो जाती है। परन्तु दम्भ और मानवृद्धिकी इच्छाको त्यागकर ही सत्संग करना चाहिये।

प्र०—सत्संग किनका करना चाहिये?

उ०—जो पुरुष भगवान्‌के गुणानुवाद तो करता है, किन्तु स्वयं कामी, क्रोधी अथवा लोभी है, उसके विषयमें पहले मेरा ऐसा विचार था कि उसका संग न करें; किन्तु एक महात्माने मुझसे कहा, 'हलवाईकी मिठाई खानेवाला उस हलवाईके गुण-दोष नहीं देखता।' परन्तु यह बात ऊँची कोटिके लिये है, साधारण साधकके लिये नहीं है। अतएव साधकके लिये तो सर्व सद्‌गुणसम्पन्न भगवद्भक्तका ही संग करना लाभप्रद है, नहीं तो दोष देखकर उसकी सत्संगसे अरुचि हो जायगी, या वह दोषोंका अनुकरण करने लगेगा।

प्र०—सत्संगसे बढ़कर भी कोई सुलभ और सर्वोत्तम साधन है क्या?

उ०—सब साधनोंका सर्वोच्च मूल कारण सत्संग है। यह

बीजरूप है। और सब शाखा-प्रशाखा हैं। सत्संग सबसे बढ़कर सुलभ साधन है।

प्र०—सत्संगके अभावमें सत्-शास्त्र-विचार करनेके लिये प्रधान-प्रधान कौन-से ग्रन्थ हैं?

उ०—प्रधान ग्रन्थोंमें मैंने तो चार ग्रन्थ मान रक्खे हैं। उपनिषद्, गीता, रामायण और भागवत। विनय-पत्रिका रामायणमें आ जाती है। वैसे तो सब ग्रन्थ उत्तम हैं।

प्र०—सत्-शास्त्र-विचारसे भी सत्संगके समान ही लाभ हो सकता है या नहीं?

उ०—जो सत्-शास्त्रका विचार कर लेगा, वही सत्संगसे अधिक लाभ उठावेगा। यद्यपि सत्-शास्त्र-विचारसे सत्संगका महत्त्व बहुत बड़ा है, किन्तु सत्संगके साथ-साथ सत्-शास्त्र-विचार भी अवश्य करना चाहिये। जो अद्वैतवादी हैं उनके लिये भी उपनिषदोंमें और श्रीमद्भागवतमें सब सामग्री मिल सकती है।

जिस मनुष्यको कुत्तेसे अधिक प्रेम हो और वह अपना सारा समय तथा ध्यान उसीमें लगाये रहे तो उसे कुत्तेकी योनिमें ही जाना पड़ता है। अर्थात् अगले जन्ममें वह कुत्ता बनता है। इसी प्रकार जो पहरेदार सूअरोंका पहरा देते हैं और जिनका ध्यान हर समय उसीमें लगा रहता है वे फिर सूअरकी योनिमें ही जन्मते हैं। इसी प्रकार जिन मनुष्योंका साधुओंसे अधिक प्रेम होता है और जो अधिक साधुसेवी होते हैं वे अगले जन्ममें अवश्य साधु बनते हैं।

नामजप और संकीर्तन

प्र०—श्रीकृष्णकीर्तन क्यों करना चाहिये ?

उ०—श्रीकृष्णकीर्तन इसलिये करना चाहिये कि श्रीकृष्ण हमारे प्यारे हैं। प्यारेका नाम लेना हमारी न छूटनेवाली आदत है। इसलिये प्यारेका जप, नामकीर्तन, गुणानुवाद किये विना रहा ही नहीं जाता। यह भक्तोंका मानो स्वभाव हो गया है। चाहे कोई निन्दा ही क्यों न करे। यह एक नियम भी है कि जिस प्रकार बनियेसे व्यापारके कीर्तन विना नहीं रहा जाता, कामी मनुष्योंसे स्त्रीके कीर्तन विना नहीं रहा जाता, किसानोंसे खेतीके कीर्तन विना नहीं रहा जाता, इसी प्रकार भक्तोंसे श्रीकृष्णकीर्तन विना नहीं रहा जाता।

प्र०—श्रीकृष्णकीर्तनसे क्या लाभ है ?

उ०—श्रीकृष्णकीर्तन करनेसे साधकको भगवान् श्रीकृष्णके दर्शन होते हैं। और उन सिद्धोंको कि जिनको भगवान् श्रीकृष्णके दर्शन हो गये हैं अपने प्यारे श्रीकृष्णके नाम लेनेमें परम आनन्द आता है।

प्र०—महाराजजी, संकीर्तनोत्सवोंका लक्ष्य क्या होना चाहिये ?

उ०—मैं तो कहता हूँ कि हरिनामसंकीर्तन हरिनाममें आसक्ति होनेके लिये ही होने चाहिये ? भगवान्‌के दर्शन या किसी अन्य हेतुसे नहीं।

प्र०—तो क्या भगवन्नाममें आसक्ति होना भगवद्दर्शनसे भी बढ़कर है ?

उ०—हाँ, अवश्य बढ़कर है। भगवन्नाममें आसक्ति हो जानेके बाद दर्शन हों चाहे न हों, उसको परवा नहीं रहती। उसको दर्शन देनेके लिये तो भगवान् तैयार ही रहते हैं।

प्र०—मन तो लगता नहीं; ऐसी अवस्थामें क्या केवल जिह्वासे नाम-जप करते रहनेसे विशेष लाभ हो सकता है ?

उ०—अवश्य लाभ होता है, क्योंकि सांसारिक काम भी बिना मन लगे करनेसे पूरा हो ही जाता है। जैसे बहीखातेका काम करते समय भी मन भ्रमण करता रहता है, किन्तु इस प्रकार बिना मन लगे भी करते रहनेसे वह काम पूरा हो ही

जाता है, वैसे ही विना मन लगे केवल जिह्वासे ही जप करते रहनेपर भी सफलता अवश्य मिलेगी।

प्र०—नाम-जप, नाम-स्मरण और कीर्तनमें कौन श्रेष्ठ है? वाणीद्वारा होनेवाले, उपांशु और मानसिक जपमें कौन-सा श्रेष्ठ है?

उ०—साधारण जनताके लिये संकीर्तन लाभप्रद है, जो संयतचित्तवाले हैं उनके लिये जप लाभप्रद है। प्रारम्भमें उच्चारण करके जप करना श्रेष्ठ है, फिर उपांशु और उसके बाद मानसिक जप श्रेष्ठ है। जैसे-जैसे मन समाहित होगा वैसे-वैसे मानसिक जप प्रिय लगने लगेगा।

प्र०—संकीर्तनमें जो स्वर-ताल आदिका रस आता है, क्या वह बन्धनकारी है?

उ०—वह भक्तके लिये तो बन्धनकारक हो नहीं सकता, क्योंकि उसकी उसमें भगवद्भावना है; उसे वह श्रवणरस न समझकर भगवद्रस समझता है अतः भगवत्प्राप्तिका साधन होनेके कारण वह उसके बन्धनका कारण नहीं हो सकता। हाँ, जिज्ञासुकी अवश्य उसमें उपेक्षा रहती है, क्योंकि उसकी उसमें भगवद्भावना नहीं होती। इसके सिवा उसका लक्ष्य भी भगवत्प्रेम नहीं होता, वह तो भगवत्तत्त्वका जिज्ञासु है। अतः उसे ये स्वर-ताल भी विषयरूप प्रतीत होनेके कारण हेय ही प्रतीत होते हैं। परन्तु वोधवान्‌की उनमें न तो हेयबुद्धि होती है और न उपादेयबुद्धि ही—उसकी दृष्टिमें तो सब कुछ ब्रह्मस्वरूप ही है।

प्र०—कुछ लोग आपके ऊपर आक्षेप करते हैं कि आप लोगोंको सन्ध्या-गायत्रीका उपदेश न करके संकीर्तनका ही उपदेश क्यों करते हैं ?

उ०—भाई ! मैं यह कब कहता हूँ कि सन्ध्या मत करो ! मैं तो कहता हूँ कि जो सन्ध्या कर सकें वे अवश्य करें। किन्तु जो अक्षर नहीं जानता, शुद्ध उच्चारण नहीं कर सकता और न जिसे पढ़ने-लिखनेका समय है वह मेरे कहनेसे सन्ध्या कैसे याद कर सकता है। उससे मैं कह देता हूँ, कीर्तन करो। यदि कीर्तनके लिये भी न कहूँ तो वे कुछ भी न करेंगे।

प्र०—महाराजजी ! बहुत-से पण्डित लोग कीर्तनमें ॐकार-ध्वनि करनेके लिये मना करते हैं। वे कहते हैं कि इसे सब नहीं बोल सकते। शूद्रका इसके उच्चारणमें अधिकार नहीं है।

उ०—अगर मना करते हैं तो मत बोलो, शास्त्रके विरुद्ध मत चलो, हमारा श्रीकृष्णनाम तो सब नामोंसे बड़ा है, देखो मुझे बंगाली महात्मासे एक श्लोक प्राप्त हुआ है। उसमें श्रीकृष्णनामकी कितनी महिमा है—

वज्रं पापमहीभृतां भवगदोद्रेकस्य सिद्धौषधं
मिथ्याज्ञाननिशाविशालतमसस्तिग्मांशुबिम्बोदयः ।
क्रूरक्लेशमहीरुहामुरुतरज्वालाजटालः शिखी
द्वारं निर्वृतिसद्मनो विजयते कृष्णेति वर्णद्वयम् ॥

माला भगवत्स्वरूप है, जिस मालासे हम जप करते हैं,

उसके अन्दर एक प्रकारकी शक्ति पैदा हो जाती है। मालाको जल्दी-जल्दी नहीं बदलना चाहिये।

तुम जिस समय कृष्णनाम लेते हो अपनेको गोलोकमें समझो।

नामके अभ्याससे नाम मधुर लगने लगेगा। जैसे ध्यान करनेवालेको दिव्य गन्ध, दिव्य दर्शनादि अनेक चमत्कार मिलते हैं वैसे ही नाम जपनेसे मिलेंगे। भगवान्‌के दर्शनकी चाह होनेसे वे तत्काल दर्शन दे सकते हैं। केवल नामजपमें ही विश्वास होनेसे नामजपसे ही भगवान् दर्शन दे सकते हैं। जो अधिक काम करता है वह अधिक भजन भी करेगा। जो काम नहीं करता उससे भजन नहीं हो सकता। हाँ, भजन धीरे-धीरे बढ़ाते जाओ तो काम अपने आप कम होता जायगा। यदि भजनमें अत्यन्त प्रेम है तो घर छोड़कर एकान्तमें भजन कर सकते हो। भजनमें कोई विघ्न कर ही नहीं सकता। इसलिये पहले अभ्यास करना चाहिये, कुछ समय भजन-कीर्तनादि करना चाहिये, थोड़ी देर गुणानुवाद करना चाहिये, जिससे मन लग जायगा। यदि पैसे पास हों तो उनसे साधुकी सेवा भी करो।

× × × ×

श्रीकृष्णके गुणानुवादमें कर्मकाण्डकी भाँति आचार-विचारका कोई नियम नहीं है। वहाँ तो गौ दुहते, झाड़ू देते, दधि मथते तथा हर एक काम करते व्रजबालाएँ श्रीकृष्णका गुणगान किया करती थीं।

× × × ×

प्र०—संकीर्तनके समय जिस नामकी ध्वनि उच्चारण करे उसके साथ नामीका ध्यान करना आवश्यक है। किन्तु महामन्त्रके एक चरणमें तो 'हरि' और 'राम' नाम हैं तथा दूसरेमें 'हरि' और 'कृष्ण' नाम हैं। सो क्या एक पद बोलनेके समय श्रीरामका ध्यान करना उचित है और दूसरा पद बोलनेके समय उस ध्यानको बदलकर श्रीकृष्णका ध्यान करना चाहिये। ऐसी दुविधा होनेसे ध्यान ठीक नहीं हो सकता। ऐसी हालतमें क्या कर्तव्य है?

उ०—भक्तको सर्वत्र एकमात्र अपने इष्टदेवका ही ध्यान करना चाहिये। मन्त्रमें जो इष्टदेवका नाम है वह तो उसका है ही; उसके अतिरिक्त जो अन्य नाम हैं वे भी अपने इष्टदेवके समझने चाहिये। जैसे महामन्त्रका जप या कीर्तन करते समय कृष्णभक्तको श्रीकृष्णका ही ध्यान करना चाहिये। जब वह 'हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे' पदका उच्चारण करे तो भी श्रीकृष्णका ही ध्यान रक्खे और यह समझे कि रामनाम भी श्रीकृष्णका ही है, क्योंकि 'राम' उसीको कहते हैं जो सब जगह रमा हुआ है अथवा जिसमें योगीजन रमण करते हैं। श्रीकृष्ण महाराजमें यह नाम पूर्णतया सार्थक होता है, क्योंकि वे सब जगह रमे हुए हैं और योगी उनमें रमण करते हैं। इसी प्रकार रामभक्तको जब वह 'हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे' उच्चारण करे तो भी श्रीरामका ही ध्यान करना चाहिये, क्योंकि रामका नाम 'कृष्ण' भी है। कृष्णका अर्थ है 'खींचनेवाला'। जैसे श्रीकृष्ण मनको खींचते हैं उसी प्रकार रामजी भी उसे अपनी ओर खींचते हैं, इसी प्रकार

यदि शिवके नामका कीर्तन करें तो भी राम या कृष्णके भक्तोंको अपने इष्टदेवका ही ध्यान करना चाहिये। क्योंकि उनके इष्टदेव-का नाम 'शिव' भी है। शिवका अर्थ है मंगलकारी, सो राम और कृष्ण भी मंगलकारी हैं ही। अतः उनका नाम शिव भी हो ही सकता है। मैं तो यह कहता हूँ कि अच्छे-बुरे जो कुछ भी नाम हैं वे सब भगवान्‌के ही हैं। अतः भक्तको पहले इष्टसिद्धि करनी चाहिये।

'कल्याण' मासिकपत्रने ध्यानसहित नामजपकी महिमा गाकर संसारका बड़ा उपकार किया, क्योंकि सब लोग जपके साथ ध्यान नहीं किया करते हैं। इससे बिना ध्यानके विशेष लाभ भी शीघ्र नहीं मिलता। भजन कैसे करना चाहिये, तुलसीदासजीने कहा है—

कामिहि नारि पियारि जिमि लोभिहि प्रिय जिमि दाम।
तिमि रघुनाथ निरन्तर प्रिय लागहु मोहि राम॥

लोभीकी भाँति नाम अधिकाधिक संख्यामें जपना चाहिये और कामीकी भाँति स्वरूपका ध्यान निरन्तर करना चाहिये।

इष्टदेवके अनन्त नाम और अनन्त रूप हैं लेकिन हमको एक नाममें और एक रूपमें अनन्यप्रेम होना चाहिये।

भगवान्‌से भगवन्नाम अलग है। किन्तु भगवन्नामसे भगवान् अलग नहीं हैं। नामके अन्दर भगवान् हैं।

नाम लेत भवसिंधु सुखाहीं। करहु बिचार सुजन मनमाहीं॥

गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीकी इस चौपाईको सब गाते हैं। लेकिन फिर भी श्रीभगवन्नाम नहीं जपते। श्रीभगवन्नामकीर्तन नहीं

करते। अनन्त सौन्दर्यकी खान जो श्रीभगवान् हैं, उनकी तरफ मन क्यों नहीं जाता ? इसलिये कि श्रीभगवान्‌की कृपाकटाक्ष नहीं होती। अपना पुरुषार्थ भी चाहिये और श्रीभगवान्‌की कृपा भी चाहिये।

प्र०—विद्वान् लोग भगवान्‌का नाम क्यों नहीं जपते ?

उ०—भगवत्कृपा बिना भगवन्नाम नहीं लिया जाता है, और न उसमें प्रीति ही होती है। भगवत्कृपा कब और किसपर होती है यह हम नहीं कह सकते।

प्र०—भगवान्‌का जोर-जोरसे नाम लेनेमें क्या लाभ है ?

उ०—भक्तलोग अपने प्यारेका नाम जोर-जोरसे लेकर आनन्दित होते हैं।

प्र०—नामकीर्तनमें सबकी निष्ठा क्यों नहीं होती ?

उ०—जिस प्रकार स्कूलमें दो सौ लड़के पढ़ते हैं परन्तु परीक्षामें उत्तीर्ण होते हैं दो-चार ही। हाँ, बार-बार प्रयत्न करनेपर और भी उत्तीर्ण हो जाते हैं। इसी प्रकार नामकीर्तनमें सबकी निष्ठा एकदम नहीं होती, बार-बार नामकीर्तन करते रहनेसे निष्ठा हो जाती है। आसक्तिका नाश होनेपर ही तुम्हें भगवन्नामनिष्ठाकी उपलब्धि होगी। नामकीर्तन करनेसे मनुष्यकी तदाकार वृत्ति हो जाती है। जो रामनाम-कीर्तन करते हैं वे रामको प्राप्त होते हैं तथा जो कृष्णनामका कीर्तन करते हैं वे कृष्णको प्राप्त होते हैं। इसी प्रकार सब हिन्दू, मुसलमान, ईसाई ईश्वरको प्राप्त होते हैं।

प्र०—तत्त्वज्ञान या भगवत्प्राप्तिके लिये क्या साधन करना चाहिये ?

उ०—चोरी, हिंसा, व्यभिचार, नशा, जूआ, झूठ, गाली, चुगली, असम्बद्ध प्रलाप, दूसरेका अनिष्टचिन्तन, परधन लेनेका संकल्प, देहमें आत्मबुद्धि—इन सबका त्याग करना और दैवी सम्पत्तिका ग्रहण करना ये भगवत्प्राप्तिके साधारण उपाय हैं और ये दो असाधारण साधन हैं—त्यागकी भावना और भगवत्स्मरण । स्मरणका अर्थ है जप । जपके लिये मैंने तीन मन्त्र चुने हैं—

१. हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे ।
हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥

२. ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ।

३. ॐ नमः शिवाय ।

जो जितना अधिक जप करेगा उसको उतनी ही अधिक शीघ्र सिद्धि होगी । सोलह नामके महामन्त्रकी कम-से-कम सोलह माला, द्वादशाक्षर मन्त्रकी कम-से-कम बारह माला और 'ॐ नमः शिवाय' की कम-से-कम पचास माला नित्यप्रति फेरनी चाहिये । अधिक जितनी कर सके उत्तम है । जिस व्यक्तिको जिस मन्त्रमें प्रीति हो उसे उस एक ही मन्त्रका जप करना चाहिये । त्यागकी भावनाके लिये परद्रव्यका त्याग करे, पुरुषार्थसे यथावश्यक द्रव्योपार्जन करे, विषयोंमें आसक्तिका त्याग करे, यथालाभसन्तुष्ट रहे तथा व्याजके व्याजसे बचे ।

इन नियमोंका पालन किये बिना तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति नहीं हो सकती और इससे भी शीघ्र प्राप्तिका उपाय है सद्गुरुकी प्राप्ति । सद्गुरु मिल जानेसे उसे शीघ्र-से-शीघ्र सिद्धि हो जाती है । सद्गुरु जो नियम बतलावें उन्हींका पालन करे ।

भगवान्‌के अनन्त नाम हैं, अनन्त शक्ति हैं, अनन्त रूप हैं और अनन्त भाव हैं। किसी-किसी महानुभावने भगवान्‌के अनन्त नाम और अनन्त शक्ति—ये दो ही पक्ष माने हैं। इसलिये जब भगवान्‌के अनन्त नाम हैं तब भगवान्‌के श्रीकृष्ण, श्रीराम, श्रीशिव आदि नाम क्यों नहीं हो सकते? जो भगवान्‌का श्रीकृष्ण, श्रीराम, श्रीशिव नाम नहीं मानते वे उक्त सिद्धान्तसे विरुद्ध हैं।

कीर्तन करनेवालोंको सन्ध्या अवश्य करनी चाहिये। यह नहीं सोचना चाहिये कि हम तो कीर्तन करते हैं, अब हमें सन्ध्या करनेकी क्या आवश्यकता है?

कीर्तन करनेवाले भक्तोंसे मेरा निवेदन है कि वे कीर्तन करते समय बिना भावकी विशेषताके दिखावटी गिर पड़ना, मूर्च्छित हो जाना, रोना, नाचना आदि न करें तो अच्छा हो। यदि अत्यन्त बढ़े हुए भावके आवेशमें कोई सावधान न रह सकता हो तो दूसरी बात है।

भाई, मैं यह नहीं कहता कि ध्यान मत करो। एक आदमी तो केवल ध्यान ही करता है, दूसरा ध्यान भी करता है और समय मिलनेपर कीर्तन भी करता है। थोड़े ही दिनोंमें देख लो कौन अधिक उन्नति कर सकता है।

कलियुग सब युगोंसे खराब युग है लेकिन तो भी देवताओंने भगवान्‌से कलियुगमें पैदा हों, ऐसा कहा है, क्योंकि इस युगमें श्रीभगवन्नामजप और श्रीभगवन्नामकीर्तनसे ही मोक्ष मिल जाता है।

सब यज्ञोंमें जपयज्ञ श्रेष्ठ है क्योंकि और यज्ञोंमें तो यह देखना

होता है कि उसमें काना न हो, कुष्ठी न हो, विधुर न हो, अविवाहित न हो, आदि-आदि। लेकिन जपयज्ञमें ऐसी कोई बात नहीं देखी जाती। इसमें तो चाहे बालक हो, चाहे बूढ़ा हो, चाहे स्त्री या शूद्र हो, सबको अधिकार है।

सबसे कठिन चीज क्या है? जप, और बुद्धिको पवित्र करनेवाली चीज क्या है? जप। जप यदि एक आसनसे किया जाय तो बहुत अच्छा है।

जिस दिन हमारी नाममें आसक्ति हो जायगी उसी दिन भक्तिमहारानी आ जायँगी।

भगवन्नामकीर्तनसे ही उद्धार हो सकता है—

देखो जी ऐसो रामनाम रसखान।
मूरख याको मरम न जाने पीवें संत सुजान॥

जिनके विचारमें रुचि नहीं है और जो भगवद्गुणानुवादमें ही मस्त हैं वे ही उत्तम हैं। पापकर्मोंको ध्वंस करनेके लिये जप करनेकी आवश्यकता है। इसीसे ज्ञानवैराग्ययुक्त भक्तिकी प्राप्ति होगी। इसको भी अनिर्विण्ण चित्तसे करना चाहिये। देहनाशपर्यन्त इसे तत्परतासे करते रहना चाहिये। पुनः-पुनः चिन्तन करनेको ही अभ्यास कहते हैं और यही पुरुषार्थ है। ईश्वरचिन्तनमें आनन्द आवे या न आवे उसे तो प्रतिज्ञा करके करते रहना चाहिये। मन भागता रहे तो कोई चिन्ता नहीं किन्तु नियमपूर्वक चिन्तन करनेकी प्रतिज्ञा करनी ही चाहिये। भगवान् उसीपर दया करते हैं जो उनका चिन्तन करता है। जिस प्रकारसे भगवान्में मन

लगे वही करना चाहिये। जपमें कम लगे तो कीर्तन करें या स्तोत्र-पाठ या स्तुतिके पद गान करें ।

अभ्यास करनेसे हम निद्राको जड़-मूलसे उखाड़ सकते हैं। किन्तु यह कार्य चार दिनके अभ्याससे न होगा । इसलिये जल्द-वाज न होना चाहिये । यह निश्चय कर लेना चाहिये कि मैं आजन्म भगवन्नाम लेता रहूँगा । नित्यके नामजपका हिसाव लिखा करें । इस प्रकार प्रतिज्ञा करनेसे भजन होगा। भजनको हठपूर्वक भी करना चाहिये । अति आहार और अति परिश्रम भजन करनेवालेके लिये निषेध है । जप करते हुए मन भटके तो भटकने दो । जपमें इतनी शक्ति है कि वह अधिक होनेसे अपने-आप मनको एकाग्र करनेमें मदद करेगा । हम एकाग्रताकी अपेक्षा प्रतिज्ञापूर्वक नियमितरूपसे जप करनेमें विशेष लाभ समझते हैं। जैसे तीन घंटे भजनका, अठारह अध्याय गीतापाठका इत्यादि । नित्यप्रति साधन करनेकी प्रतिज्ञा कर ली जाय तो इससे वड़ा लाभ है। यदि लाभ न दीखे तो कोई हर्ज नहीं । इस जन्ममें नहीं तो अगले जन्ममें लाभ दीखेगा । कभी-न-कभी तो आनन्द आवेगा ही । कम-से-कम इतना तो आनन्द आवेगा कि मैंने आज इतना भजन किया ।

एक वार एक मुसलमानने मेरे पास आकर मुझसे पूछा कि हमारा उद्धार किस प्रकार हो सकता है ? मैंने कहा कि भैया अल्लाह-अल्लाह रटा करो। अल्लाह-अल्लाह रटनेसे तुम्हारा अन्तःकरण शुद्ध हो जायगा और हिंसादि वुरे कर्म छूट जायेंगे क्योंकि वह भी एक प्रकारसे कीर्तन ही है।

ईश्वरतत्त्व

[एक जिज्ञासुके साथ ईश्वरविषयक सम्भाषण]

जिज्ञासु—ईश्वरकी सत्तामें क्या प्रमाण है ?

स्वामीजी—पहले तुम यह बतलाओ कि तुम आये कहाँसे हो ?

जिज्ञासु—हाथरससे ।

स्वामीजी—क्या तुम हाथरसमें...........को जानते हो ?

जिज्ञासु—नहीं ।

स्वामीजी—क्या तुम कलकत्तेके...........को जानते हो ?

जिज्ञासु—नहीं ।

स्वामीजी—क्या तुमने कलकत्ता देखा है ?

जिज्ञासु—नहीं ।

स्वामीजी—इससे सिद्ध होता है तुम सबको नहीं जानते और न तुमने सब वस्तुएँ ही देखी हैं ।

जिज्ञासु—जी ।

स्वामीजी—तो तुम अल्पज्ञ हुए ।

जिज्ञासु—जी ।

स्वामीजी—इसी प्रकार सब जीव अल्पज्ञ हैं, किन्तु वे निरन्तर अधिकाधिक जानने—सर्वज्ञ बननेका प्रयत्न करते हैं । ऐसे ही कोई भी जीव संसारके सब पदार्थोंको नहीं बना सकता क्योंकि जीवकी शक्ति अल्प है; फिर भी वह इस प्रयत्नमें अवश्य रहता है कि वह अधिक-से-अधिक वस्तुओंकी रचना कर सके । वह अल्पशक्ति होकर भी सर्वशक्तिमान् बननेकी चेष्टा करता है । जीवकी यह प्रवृत्ति स्वाभाविक है और जबतक वह सर्वशक्तिमान् या सर्वज्ञ नहीं बन जाता तबतक उसकी दौड़-धूप शान्त भी नहीं होती । इससे सिद्ध होता है कि कोई सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् भी है । अल्पज्ञता ही सर्वज्ञताका अनुमापक लिङ्ग है । अल्पज्ञ है, इसलिये कोई सर्वज्ञ भी होना चाहिये । जगत् है, इसलिये इसका रचयिता भी होना चाहिये । नियम्य है, इसलिये कोई नियामक भी होना चाहिये । इस प्रकार जो कोई सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् जगत्का रचनेवाला और उसका नियामक है वही ईश्वर कहलाता है ।

× × × ×

प्र०—क्या ईश्वर तर्कसे सिद्ध हो सकता है ?

उ०—नहीं, तर्कसे षडैश्वर्यसम्पन्न ईश्वरकी सिद्धि नहीं हो सकती, केवल निर्विशेष ब्रह्मकी सिद्धि हो सकती है। ईश्वर तो भावग्राह्य है। उसका अनुभव तो भक्ति और प्रेमसे ही होता है। किन्तु यद्यपि हम तर्कसे ईश्वरको सिद्ध नहीं कर सकते तथापि ब्रह्मसत्ताको सिद्ध कर सकनेके कारण शून्यवाद भी सिद्ध नहीं होने देंगे। हमारा सिद्धान्त शून्यवाद नहीं, ब्रह्मवाद है।

प्र०—लोग कहते हैं कि अवतार लेनेसे ईश्वरकी व्यापकता नष्ट हो जायगी। इस विषयमें आपका क्या मत है ?

उ०—पृथिवी सर्वत्र व्यापक है; उससे घटादि बना लेनेसे भी उसकी व्यापकता नष्ट नहीं होती। उसी प्रकार यदि कहीं भगवान् अपने सगुण, साकार विग्रहसे आविर्भूत हो जाते हैं तो इससे उनकी व्यापकतामें कोई कमी नहीं आती।

प्र०—ईश्वर तो निराकार है, वह साकार कैसे हो जाता है ?

उ०—जब अल्पशक्ति जीव भी अपनी सङ्कल्पशक्तिसे साकार हो जाता है तो सर्वशक्तिमान् भगवान्‌के साकार हो जानेमें क्या आश्चर्य है ?

प्र०—भगवान् अवतार क्यों लेते हैं ?

उ०—भगवान् अपने भक्तोंकी प्रार्थनासे अवतार लेते हैं। पूज्य गोस्वामी तुलसीदासजी महाराज कहते हैं—

अगुन अरूप अनाम एकरस। राम सगुन भये भक्त प्रेमबस ॥

भगवान् भक्तवाञ्छाकल्पतरु हैं। भगवान्‌को कोई प्रियाप्रिय नहीं है, भगवान् समदृष्टि हैं। भगवान्‌को भक्तोंकी वाञ्छा पूरी करनेके लिये अवतार लेना पड़ता है। इसलिये भक्तोंके अनुभवमें भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र साक्षात् भगवान् हैं। दुष्टोंको साधारण ग्वालबाल प्रतीत होते हैं। तुलसीदासजी महाराजने निर्गुणको सुलभ कहा है और सगुणको दुर्विज्ञेय बतलाया है—

निरगुन रूप सुलभ अति सगुन न जाने कोय।

× × × ×

'क्यों रे! तू किसकी उपासना करता है?'

'मैं तो भगवन्! उसीकी उपासना करता हूँ।'

'क्या वह निराकार है?'

'जी नहीं।'

'तो क्या साकार है?'

'जी नहीं।'

'तू भी खूब है! 'उसे' निराकार और साकारसे भी अलग कर दिया।'

'हाँ भगवन्! आपने ही तो बताया था कि वह न तो साकार है और न निराकार। वह तो दोनोंसे पृथक् है।'

× × × ×

प्रायः लोग कह दिया करते हैं कि साकार-उपासना सरल है। नहीं, साकार-स्वरूपकी झाँकी तो दृढ़ अभ्यासी लोग ही कर सकते हैं। निराकारकी उपासना सूक्ष्म बुद्धिवालोंके लिये सरल है।

ईश्वरके साकार और निराकार—दोनों रूप एक ही हैं; कुछ

भेद नहीं है। जल और तरंग एक ही है। जलसे तरंग भिन्न नहीं है। जिस प्रकार बर्फ और पानी एक ही हैं, किन्तु देखनेमें दो मालूम होते हैं, बिल्कुल इसी प्रकार ईश्वर साकार और निराकार है। बर्फके हरएक अंशमें जल है, कोई भी अंश जलसे भिन्न नहीं है। जब बर्फको सूर्यकी गरमी लगती है तो वह जलरूप हो जाता है। इसी प्रकार साकार ईश्वर ध्यानरूप सूर्यकी गरमीसे निराकार हो जाता है; इसके सिवा, पानीमें बिजली दौड़ती है; किन्तु उससे प्रकाश नहीं होता। आँखोंसे जो चीज दीखती है वह सब अग्निरूप है, पर रोटीका कच्चापन अथवा शीत केवल दीखनेवाली चीजसे दूर नहीं होता। जब चकमक-पत्थरसे आग निकलती है अथवा पानीसे बिजली निकाली जाती है, तभी उनसे कोई कार्य सिद्ध होता है। इसी प्रकार प्रेमरूपी रगड़से ईश्वर निराकारसे साकार हो जाता है। वही साकार ईश्वर धर्मसंस्थापनादि कार्य करता है।

हर एक चीज चैतन्य है। केवल हमारी जडता-बुद्धिसे ही वह जड प्रतीत होती है, वास्तवमें जड नहीं है। जडता-बुद्धिको दूर करनेके लिये ही उपासना की जाती है। उपासनाका फल ही ज्ञान है।

जिस प्रकार सामान्य अग्नि सर्वत्र व्याप्त है, किन्तु जब वह प्रयत्नपूर्वक विशेषरूपसे प्रकट किया जाता है तभी उसका कोई उपयोग होता है, उसी प्रकार भगवान्‌का सर्वव्यापक निर्गुण और निर्विशेष रूप जब भक्तकी भावनासे सगुण और सविशेषरूपमें प्रकट होता है तभी वह दुष्टदलन और भक्त-प्रतिपालन आदिमें समर्थ होता है।

भगवान्‌के अवतार-शरीर अन्य पुरुषोंके समान पाञ्चभौतिक नहीं होते। वे चिन्मय होते हैं। केवल भक्तकी भावनासे ही वे वैसे दिखलायी देते हैं।

ईश्वरके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। हमारी बुद्धि अज्ञानसे जडवत् हो गयी है, इसीसे संसारकी वस्तुएँ पृथक् प्रतीत होती हैं। किन्तु वास्तवमें ईश्वरसे अन्य और कुछ भी नहीं है। ईश्वर और जीवके बीचमें जडता (माया) का परदा पड़ा हुआ है। बिना यह परदा हटे जीव और ईश्वरका ऐक्य अर्थात् मिलन नहीं होता।

ईश्वर और जीवमें क्या अन्तर है ? जीव और ईश्वर सजातीय हैं, इसीलिये जीव भगवान्‌का दास बनना चाहता है, क्योंकि सेव्य और सेवक दोनों सजातीय ही हुआ करते हैं। जीव और ईश्वर दोनों ही चेतन और अनादि हैं, इसलिये इनका कोई अन्तर समझमें नहीं आता। हाँ, इन दोनोंमें ईश्वर तो राग-द्वेष-रहित तथा ज्ञानानन्दस्वरूप है और जीव सत्स्वरूप तथा ज्ञानस्वरूप होते हुए भी राग-द्वेषके कारण आनन्दरहित है। उपासनाद्वारा राग-द्वेष-रहित हो जानेसे जीवकी ईश्वरके साथ एकता हो जाती है।

× × × ×

अज्ञानका परदा हटते ही इस जगत्‌के ही स्थानमें सर्वत्र भगवान् दीखने लगेंगे।

हरिरेव जगज्जगदेव हरि-
र्जगतो हरितो न हि भिन्नतनुः।

इति यस्य मतिः परमार्थगतिः
स नरो भवसागरमुद्धरति ॥

× × × ×

यह संसार जो कुछ दीखता है, वास्तवमें प्रभुके सिवा कुछ भी नहीं है।

कोई-न-कोई ऐसी शक्ति जरूर है जो हमारी समय-समयपर रक्षा करती है। एक बार मैं रामघाटपर एक कुटियामें, जो १०० वर्षसे भी पुरानी है और स्वामी दयानन्दके समयकी है, रात्रिको सोया करता था और प्रातःकाल तीन बजे उठकर कुटियामें ही बैठा रहता था। जब आलस्य आता तो फिर लेट जाता, एक दिन मैं तीन बजे उठकर बैठा हुआ था। मुझे आलस्य भी आया लेकिन फिर भी मैं लेटा नहीं। मेरे तकियेके पास एक साँप फण फैलाये बैठा था। मुझे साँपका कोई पता न था। थोड़ी देर बाद मैंने देखा तो साँप बैठा ही हुआ था। मैं उससे डरा नहीं। फिर वह मेरी पीठ पीछे इधर-उधर चक्कर लगाने लगा। बहुत देरतक ऐसा होता रहा। फिर मैं उठा, और उठकर मैंने कुटियाके ऊपर-का छप्पर उकसाया तो साँप बाहर चला गया। जान पड़ता है कोई-न-कोई ऐसी शक्ति जरूर थी कि जिसने आलस्य आनेपर भी मुझे नहीं लेटने दिया।

परमात्मा अर्थात् तत्त्ववस्तु अलक्ष्य है।

साकार और निराकार वस्तु वाच्यार्थ है, वाच्यार्थमें तृप्ति नहीं।

जबतक तुम्हें अपना पता है तबतक उनका पता नहीं है, जब उन्हें जान लोगे तब अपना पता नहीं रहेगा।

वास्तवमें जब निराकारको देखने लगोगे, तब कुछ कह नहीं सकोगे। जितने विशेषण दिये जाते हैं, अपने भाव बतानेके लिये ही दिये जाते हैं।

परमात्मा हमारी सब बातें जानते हैं, हम चाहे परमात्माको न जानें।

जब भक्त परमात्माको जाननेके लिये पूर्णतया तैयार होता है, तब भक्त और भगवान् एक हो जाते हैं।

जबतक भक्तमें किञ्चित् भिन्नता रहती है तबतक भक्त और भगवान् दो हैं। तदाकार-वृत्तिमें और भूल जानेमें बड़ा अन्तर है। भूल जाना अज्ञान है। अज्ञानमें लीन होनेसे दुःख न मालूम होता हो, तथापि उसका कारण अवश्य रहता है। ज्ञानमें तल्लीन होना परमानन्द है, सुषुप्तिमें अज्ञानानन्द है।

जिसको संसारमें दुःख मालूम होता है, वही उससे छूटनेकी चेष्टा करता है। हम ऐसा नित्यसुख चाहते हैं, जिसमें दुःखका लेश भी नहीं।

परमात्मा निराकार हैं, किन्तु भक्तोंके लिये वे साकार हैं।

परमात्माका स्वभाव निर्गुण है, किन्तु भक्तोंके लिये सगुण है।

शिवतत्त्व

प्र०—शिवतत्त्व क्या है? लिङ्गोपासनाका क्या रहस्य है? उसका अधिकारी कौन है और उसका मुख्य फल क्या है? कुछ ऐसी सत्य घटनाएँ सुनाइये जो आपके अनुभवमें आयी हों।

उ०—हमारे विचारसे शिवतत्त्व वही है जिसका वर्णन श्वेताश्वतर उपनिषद्के इस मन्त्रमें किया गया है—

सर्वाननशिरोग्रीवः सर्वभूतगुहाशयः।
सर्वव्यापी स भगवांस्तस्मात् सर्वगतः शिवः॥*

(३।११)

लिङ्गका अर्थ प्रतीक (चिह्न) है। शिवलिङ्ग पुरुषका प्रतीक

---

* समस्त मुख, समस्त शिर और समस्त ग्रीवाएँ भगवान् शिवकी ही हैं, वे सम्पूर्ण प्राणियोंके अन्तःकरणमें स्थित हैं और सर्वव्यापी हैं अतः शिव सर्वगत हैं।

है और शक्ति प्रकृतिका चिह्न है। पुरुष और प्रकृतिका संयोग होनेपर ही सृष्टि होती है, जैसा कि कहा है—

शिवः शक्त्या युक्तो यदि भवति शक्तः प्रभवितुम्।

उन पुरुष और प्रकृतिकी संयुक्त उपासना करनेसे बहुत शीघ्र फल मिलता है, इसीलिये शक्तिस्थित शिवलिङ्गकी उपासना की जाती है।

भगवान् शिव आशुतोष हैं। वे यों तो जिसकी जैसी इच्छा होती है उसीको तत्काल पूर्ण कर देते हैं; परन्तु मुख्यतया मोक्ष और विद्याप्राप्तिके इच्छुकोंको शिवोपासना करनी चाहिये। मोक्ष-दाता देव मुख्यतया भगवान् शङ्कर ही हैं। इसीलिये शिवपुरी काशीके विषयमें 'काशीमरणान्मुक्तिः' ऐसा प्रसिद्ध है। अन्य देवों या अवतारोंकी पुरियोंमें निवास करनेवालोंके लिये उन्हीं लोकोंकी प्राप्ति शास्त्रमें बतलायी है—कैवल्यमोक्षकी नहीं।

[तदनन्तर, श्रीमहाराजने कुछ सच्ची घटनाएँ सुनायीं, उनमेंसे एक यहाँ लिखी जाती है—]

एक बार एक ब्रह्मचारी और एक बंगाली नवयुवकने श्रीवैद्य-नाथके मन्दिरमें धरना देनेका निश्चय किया। ब्रह्मचारी महोदयके पास एक छतरी और दस-ग्यारह रुपये थे। वे कविवर श्रीहर्षके समान कवित्वशक्ति प्राप्त करना चाहते थे। बंगाली नवयुवकको शूल-रोग था और उसके पास सौ सवा सौ रुपयेकी सम्पत्ति थी। दोनोंने अपना रुपया-पैसा और सामान एक पंडाको सौंप दिया और अपने भोजनादिका प्रबन्ध भी पंडेको ही सौंपकर स्वयं धरना देकर

पड़ गये । परन्तु वह पंडा उनका सारा सामान लेकर चला गया और उनके प्रसाद-ग्रहणकी भी कोई व्यवस्था न रही ।

चार दिन बीतनेपर ब्रह्मचारी महोदयके अन्तःकरणमें अकस्मात् वैराग्यका प्रादुर्भाव हुआ । वे सोचने लगे—'आखिर, श्रीहर्ष भी तो कालके गालमें ही चले गये, फिर उनके कवित्वसे ही मुझे क्या लेना है ?' ऐसा सोचकर उन्होंने धरना छोड़ दिया और अपने बंगाली मित्रके लिये प्रसाद आदिकी सुव्यवस्था करा दी । ग्यारह दिन बीतनेपर उस बंगाली युवकको स्वप्नमें भैरवका दर्शन हुआ । उसे भाँति-भाँतिके भय दिखाये गये; परन्तु वह अपने निश्चयसे विचलित न हुआ । तेरहवें दिन उसे फिर भैरवका स्वप्नमें दर्शन हुआ । उस समय उसने अपना दुःख निवेदन किया । तब भैरवजीने कहा—'तुम पूर्वजन्ममें शिवोपासक थे । उस समय तुम्हें भगवान् शङ्करकी उपासनाके लिये जो द्रव्य दिया जाता था उसमेंसे बहुत-सा तुम हरण कर लेते थे । उस पापके कारण ही तुम्हें यह रोग हुआ है, यह तुम्हारे इस जन्ममें दूर नहीं हो सकता । परन्तु तुमने भगवान् शिवकी शरण ली है, इसलिये इस जन्ममें भी यह और अधिक नहीं बढ़ेगा ।'

तदनन्तर उस बंगाली युवकने धरना छोड़ दिया और उसका रोग, जो अबतक निरन्तर बढ़ता रहा था, और अधिक नहीं बढ़ा तथा वह भगवान् शिवका अनन्यभक्त हो गया ।

शक्तितत्त्व

प्र०—शक्तितत्त्व क्या है ?

उ०—जो निर्विशेष, शुद्ध तत्त्व सम्पूर्ण ब्रह्माण्डका आधार है, उसीको पुंस्त्वदृष्टिसे 'चित्' और स्त्रीत्वदृष्टिसे 'चिति' कहते हैं। शुद्ध चेतन और शुद्ध चिति—ये एक ही तत्त्वके दो नाम हैं। मायामें प्रतिबिम्बित उसी तत्त्वकी जब पुरुषरूपसे उपासना की जाती है तब उसे ईश्वर, शिव अथवा भगवान् आदि नामोंसे पुकारते हैं, और जब स्त्रीरूपसे उसकी उपासना करते हैं तो उसी-को ईश्वरी, दुर्गा अथवा भगवती कहते हैं। इस प्रकार शिव-गौरी,

कृष्ण-राधा, राम-सीता तथा विष्णु और महालक्ष्मी—ये परस्पर अभिन्न ही हैं। इनमें वस्तुतः कुछ भी भेद नहीं है, केवल उपासकोंके दृष्टि-भेदसे ही इनके नाम और रूपोंमें भेद माना जाता है।

प्र०—शक्त्युपासनाका अधिकारी कौन है? और उसका अन्तिम फल क्या है?

उ०—शक्तिकी उपासना प्रायः सिद्धियोंकी प्राप्तिके लिये की जाती है। तन्त्रशास्त्रका मुख्य उद्देश्य सिद्धि-लाभ ही है। आसुरी प्रकृतिके पुरुष उसे तामसिक पदार्थोंसे पूजते हैं, तथा दैवी प्रकृतिके पुरुष गन्ध-पुष्प आदि सात्त्विक पदार्थोंसे, जिससे वे क्रमशः नाना प्रकारकी आसुरी और दिव्य सिद्धियाँ प्राप्त करते हैं।

इस प्रकार यद्यपि शक्तिके उपासक प्रायः सकाम पुरुष ही होते हैं, तो भी यह नहीं कहा जा सकता कि उसके निष्काम उपासक होते ही नहीं। परमहंस रामकृष्ण ऐसे ही निष्काम उपासक थे। ऐसे उपासक तो सब प्रकारकी सिद्धियोंको ठुकराकर उसी परम पदको प्राप्त होते हैं जो परमहंसोंका गन्तव्य स्थान है। और यही शक्त्युपासनाका चरम फल है। दुर्गासप्तशतीमें जिस प्रकार देवीको 'स्वर्गप्रदा' बतलाया है उसी प्रकार उसे 'अपवर्गदा' भी कहा है। यथा—

स्वर्गापवर्गदे देवि नारायणि नमोऽस्तु ते॥

प्र०—शक्त्युपासनाका महत्त्व सूचित करनेवाली कोई सच्ची घटना सुनाइये।

उ०—प्रायः सवा सौ वर्ष हुए जगन्नाथपुरीके पास एक जमींदार थे। लोग उन्हें 'कर्ताजी' कहकर पुकारा करते थे। उन्होंने एक पण्डितजीसे वैष्णवधर्मकी दीक्षा ली। पण्डितजी ऊपर-से तो वैष्णव बने हुए थे, परन्तु वास्तवमें श्यामा (काली) के उपासक थे। वस्तुतः उनकी दृष्टिमें श्याम और श्यामामें कोई भेद नहीं था।

इधर कुछ लोगोंने कर्ताजीसे उनकी शिकायत करनी आरम्भ कर दी। परन्तु कर्ताजीको अपने गुरुजीसे इस विषयमें कोई प्रश्न करनेका साहस नहीं हुआ। उस देशके लोग अपने गुरुका बहुत अधिक गौरव मानते हैं। पण्डितजी रात्रिके समय काली माँकी उपासना किया करते थे। अतः कुछ लोगोंने कर्ताजीको निश्चय करानेके लिये उन्हें रात्रिको—जिस समय पण्डितजी पूजामें बैठते थे—ले जानेका आयोजन किया। एक दिन जिस समय पण्डितजी माताकी पूजा कर रहे थे वे अकस्मात् कर्ताजीको लेकर आ धमके। कर्ताजीको आये देख पण्डितजी कुछ सहमे और उन्होंने जगदम्बासे प्रार्थना की कि 'माँ! यदि तेरे चरणोंमें मेरा अनन्य प्रेम है तो तू श्यामासे श्याम हो जा।' पण्डितजीकी प्रार्थनासे वह मूर्ति कर्ताजीके सहित अन्य सब दर्शकोंको श्रीकृष्णरूप ही दिखलायी दी। इस प्रकार अपने भक्तकी प्रार्थना स्वीकारकर भगवतीने भगवान्‌के साथ अपना अभेद सिद्ध कर दिया।
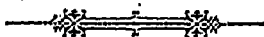
भगवल्लीला

भगवान् श्रीकृष्णने माखन चुराकर खाया, उन्होंने गोपियोंके साथ रासलीला की—इन लीलाओंका रहस्य प्रत्येक मनुष्य नहीं समझ सकता। प्रातःस्मरणीय गोस्वामी तुलसीदासजी कहते हैं—

यह चरित्र जानें मुनि ज्ञानी। जिन रघुवीर चरण रति मानी॥

भगवान् श्रीकृष्ण लीलापुरुषोत्तम हैं। उनकी बड़ी ही अलौकिक और दिव्य नित्यलीलाएँ हुआ करती हैं। उन्हें कोई विरले भाग्यवान् प्रेमीजन ही देख पाते हैं। वे भगवान् हमारे पास भी बैठे हुए हैं, परन्तु हमारे पापोंसे हमें दीखते नहीं। भगवान् कहते हैं, 'मैं तो भक्तोंका ऋणी हूँ, सालोक्य, सारूप्य, सामीप्य और सायुज्य आदि मुक्तियाँ तो उन्हें मैं व्याजमें दे देता हूँ। मूल तो उनका जमा ही रहता है।' किन्तु वे प्रेमी-भक्त इन चारों मुक्तियोंको मेरे द्वारा दी जानेपर भी स्वीकार नहीं करते—

सालोक्यसार्ष्टिसामीप्यसारूप्यैकत्वमप्युत।
दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः॥

श्रीरघुनाथजीके चरित्रमें शंका मत करो, इस सम्बन्धमें कुछ भी न कहो। वे जो कुछ करते हैं ठीक ही करते हैं। वेठीक कर ही नहीं सकते। श्रीरघुनाथजीको जब हम ईश्वर समझ चुके हैं तो उनके कार्योंमें तर्क करनेकी क्या जरूरत है? महान् पुरुष जो करते हैं उसे आदर्शरूपमें नहीं मानना चाहिये। उनके उपदेशको आदर्श मानना चाहिये।

'काशीमरणान्मुक्तिः' इसमें कोई सन्देह नहीं—

अयोध्या मथुरा माया काशी काञ्ची ह्यवन्तिका।
पुरी द्वारावती चैव सप्तैता मोक्षदायिकाः॥

ये सब भगवान्‌के धाम हैं, वहाँ रहकर शुभ कर्म करनेसे अवश्य मुक्ति होगी। यदि धाममहत्त्व न हो तो उसे कौन मानेगा? काशी, वृन्दावन, गंगा, यमुना आदि सब मुक्तिके धाम हैं।

रासलीला नित्यलीला है। वह एक क्षणके लिये भी बन्द नहीं होती, किन्तु उसे सब नहीं देख सकते, जिनकी दिव्य दृष्टि होती है वे ही देख सकते हैं।

भगवान् श्रीकृष्णकी माखनचोरीलीला अथवा वस्त्रहरण-लीला तो ऐसी ही हैं जैसी आजकलके एक छोटे-से पाँच-छः वर्षके बच्चेकी होती हैं। भगवान् कुछ चपल थे। आज भी बच्चे खाने-पीनेकी चीजोंको अपने और अपने अन्य मित्रोंके घरोंमेंसे चपलतापूर्वक निकालकर खा-पी जाते हैं; तो क्या उनका यह कार्य चोरीको सजा पाने योग्य माना जाता है। यह बालककी चपलता ही है; किन्तु चपल बालक अपने माता-पिताको तथा अन्य सबको अच्छा ही लगता है। चीरहरणलीला आदि भी ऐसी ही हैं। इनमें दोष देखनेवालोंको कम-से-कम उस समयकी भगवान्‌की आयुका ध्यान तो रखना ही चाहिये। क्या पाँच वर्षकी अवस्थाके बालकके ऐसे कार्य दण्डनीय समझे जाते हैं?

इसी प्रकार यदि उन्हें केवल मनुष्य या योगिराज मानें तो भी उनकी इन लीलाओंमें किसी प्रकारका दोष देखना उचित नहीं है।

योगियोंको कौन सिद्धि प्राप्त नहीं होती ? फिर भी क्या वे किसी बुरी नीयतसे माखन-मिश्री चुराकर खायेंगे ? अथवा किसी दूषित विचारसे कुमारी कन्याओंके वस्त्र उठाकर ले जायेंगे ? और माँगनेपर उन्हें तत्काल दे देंगे ? और यदि उन्हें साक्षात् परब्रह्म समझो तब तो उनसे किसीका परदा या परायापन हो ही क्या सकता है ? ऐसी अवस्थामें उनसे भिन्न है ही कौन जिसकी वे चीज चुरायेंगे। तब तो सब चीजें उन्हींकी होंगी और वे अपनी चीजोंकी यथोचित व्यवस्था करेंगे। जिस दृष्टिसे भी देखो, भगवान् कृष्णके चरित्रमें कोई दोष दिखायी नहीं देता। परन्तु उनका महत्त्व और वास्तविकता ही किसीकी समझमें आना कठिन है। जब कि मामूली-सा खिलाड़ी भी रंग-भूमिपर आकर अपनी वास्तविकताको ऐसी छिपाता है कि वह किसीपर प्रकट ही नहीं होती तो फिर जब साक्षात् विश्वेश्वर लीला करने लगें तो उन्हें कौन पहचान सकता है ? अभी जब पण्डित ईश्वरचन्द्र विद्यासागर जीवित थे तो बङ्गालके एक प्रसिद्ध नाट्यकारने उन्हें एक नाटकका अभिनय देखनेके लिये आमन्त्रित किया। परन्तु विद्यासागरजी समयाभावके कारण उनका अभिनय देखने नहीं जा सके। एक दिन जब उन्हें समय मिला और वे नाटक देखनेको गये तो उस दिन 'नीलके व्यापारका नाश' इस नाटकका अभिनय दिखाया जा रहा था। विद्यासागरजी एक ऊँचे दर्जेमें बैठे तमाशा देख रहे थे। उन्होंने देखा कि एक गोरा नीलकी खेती करनेवाले एक हिन्दुस्तानी किसानपर अत्याचार कर रहा है। बस, यह देखकर वे ऐसे उत्तेजित हुए कि उन्होंने वहीं अपनी चप्पल पाँवमेंसे निकालकर उस गोरेपर खींच मारी। सब लोग

देखते-के-देखते रह गये । परन्तु नाट्यकारने झट मञ्चपर खड़े होकर अपने अभिनयकी सराहना की कि आज मेरा अभिनय दिखाना सार्थक हुआ जो पं० ईश्वरचन्द्र-जैसे महान् पुरुषको भी यह लीला सच्ची घटना जान पड़ी । यह अवस्था तो हमारे चतुर अभिनय कर्ताओंकी है । फिर भला जब स्वयं जगदीश्वर एक बच्चेका अभिनय करने संसारमें आवें और साधारण सांसारिक पुरुष उनकी वास्तविकताको पहचान लें तो उनका अभिनय कच्चा ही कहलायेगा । इसलिये हर किसीकी समझमें उनकी लीला नहीं आ सकती ।

जो पुरुष श्रीकृष्णचन्द्रकी लीलाओंका आध्यात्मिक अर्थ लगाते हैं और कहते हैं कि उन्होंने वस्त्रहरण नहीं किया, किन्तु भक्तोंके मनको चुराया था । माखन नहीं चुराया किन्तु यह चुराया, वह चुराया, ऐसा कहकर उन मधुर-लीलाओंको केवल रूपकमात्र सिद्ध करते हैं, उनका यह मत यथार्थ नहीं कहा जा सकता । क्योंकि वेदों और दर्शनोंके पारगामी, महान् पण्डित—भगवान् वेदव्यासजी कोई कच्ची बुद्धिके बच्चे नहीं थे जो मन चुरानेकी बातको सीधे-सीधे न लिखकर लोगोंको भ्रममें डालते । क्या उन्होंने भक्तोंके मन चुरानेकी बात नहीं लिखी ? फिर इसी जगह वे उसे इस प्रकार क्यों दिखाते ? यह झूठा अध्यात्मवाद भक्तोंको अच्छा नहीं लगता वरन् उनके कोमल चित्तको ठेस पहुँचाता है ।

प्रेमी और प्रेम

प्र०—प्रेमका लक्षण क्या है ?

उ०—प्रेमका लक्षण इस श्लोकमें कहा है—

सर्वथा ध्वंसरहितः सत्यपि ध्वंसकारणे ।
यद्भावबन्धनं यूनोः तत्प्रेमा परिकीर्तितः ॥*

प्र०—प्रेम कैसे नष्ट हो जाता है ?

उ०—बहिर्मुख पुरुषोंकी संगति करनेसे, २ बहिर्मुख पुरुषोंकी बनायी हुई पुस्तकोंके पढ़नेसे, ३ बहुत शास्त्रोंका अभ्यास करनेसे, ४ संसारी पुरुषोंके साथ राग करनेसे और ५ बहुत शिष्य करनेसे ।

---

*नाशका कारण उपस्थित होनेपर भी जो दो व्यक्तियों (प्रेमिक और प्रेमपात्र) का भावमय बन्धन नाशरहित रहता है वह प्रेम कहलाता है ।

सुरपति नरपति लोकपति जिनके भावैं घास।
रहे परम आनँद मगन, तजि सबहीकी आस॥

इस दोहेमें बतलाया हुआ व्यक्ति कितना जबरदस्त प्रेमी है।

प्रेम ज्ञानको दबा देता है।

नारायण दो बात सौं, और अधिक नहिं बात।
रसिकनको सत्संग नित, युगलध्यान दिन-रात॥

इन दो बातोंसे बढ़कर और क्या बात हो सकती है।

भगवान्‌के बलका अनुभव प्रेमसे होता है।

यदि आनन्द लेना है तो ईश्वरसे प्रेम करो, पदार्थोंके बनने-बिगड़नेसे कोई लाभ-हानि नहीं है।

गोपियोंसे भगवान् श्रीकृष्ण एक क्षणभरके लिये भी अलग नहीं होते थे। जब वर्तमानकालके भक्तोंसे भी भगवान् दूर नहीं होते तो गोपियोंसे दूर कैसे जा सकते थे? शास्त्रमें ऐसा कहा है—

वृन्दावनं परित्यज्य पादमेकं न गच्छति।

प्र०—एक ओर तो भगवान्‌को सर्वव्यापक बतलाया जाता है और दूसरी ओर यह कहा जाता है कि वे वृन्दावनको छोड़कर एक पग भी कहीं अन्यत्र नहीं जाते; इन परस्पर-विरुद्ध वाक्योंकी संगति किस प्रकार हो सकती है?

उ०—भगवान् भक्तके अधीन हैं; भक्त यदि न चाहे तो वे वृन्दावनसे बाहर नहीं जा सकते। जिनकी दृष्टिमें सर्व है उनके

लिये भगवान् सर्वव्यापक हैं। भगवान् भावग्राही हैं—वे भक्तानुग्रहविग्रह हैं, उन्हें भक्तोंकी भावनाके अनुसार ही व्यवहार करना पड़ता है।

एक बार नैमिषारण्यमें ऋषियोंने मिलकर विचार किया कि ज्ञान बड़ा है या प्रेम, तथा दान बड़ा है या श्रीकृष्णनाम ? तब यह निर्णय हुआ—

ज्ञानमेव तुलितञ्च तुलायां
प्रेम नैव तुलितञ्च तुलायाम्।
दानमेव तुलितञ्च तुलायां
कृष्णनाम तुलितं न तुलायाम्॥

इस प्रकार दान-ज्ञान छोटे रहे तथा प्रेम और श्रीकृष्णनाम बड़े निकले।

प्रेमीको स्वयं त्याग होता है और विवेकीको त्याग करना पड़ता है। प्रेमीसे विषयोंका चिन्तन होता ही नहीं। विवेकी विषयमें दोषदृष्टि करता है। श्रीनारायणस्वामीजी कहते हैं—

विधि निषेध श्रुति वेदकी, मेंड देत सब मेट।
नारायण जाके हिये, लागत प्रेम-चपेट॥
नेम धर्म धीरज समुझ, सोच विचार अनेक।
नारायण प्रेमी निकट, इनमें रहे न एक॥

श्रीकृष्णचरणाम्भोजं सत्यमेव विजानताम्।
जगत्सत्यमसत्यं वा नेतरेति मतिर्मम॥

जिन भक्तोंने श्रीकृष्ण-चरणारविन्दोंको ही सत्य समझ लिया

है, उनकी बुद्धिमें ये भाव उत्पन्न ही नहीं होते कि जगत् सत्य है अथवा असत्य। वे जगत्की सत्यता-असत्यताके कारण श्रीकृष्ण-पाद-पद्मोंमें प्रीति नहीं करते।

प्रेम-प्राप्ति ही जीवनका अन्तिम लक्ष्य है। श्रद्धा, भक्ति प्रेम-प्राप्तिके सर्वोत्तम उपाय हैं। अश्रद्धालु एवं अभक्त कभी प्रेमी नहीं हो सकता। श्रद्धा-भक्तिका उदय पवित्र अन्तःकरणमें ही होता है। श्रद्धाद्वारा ज्ञानकी प्राप्ति होती है, ज्ञानद्वारा भक्तिकी प्राप्ति होती है। निष्ठा (शब्द) भक्तिका पर्यायवाची है। निष्ठाके उदय होते ही प्रेम प्रकट होने लगता है।

भक्तको भगवान्‌के अतिरिक्त किसी भी सम्बन्धमें कभी बातचीत नहीं करनी चाहिये। मनुष्य-जीवनमें जो असन्तोष बना रहता है, यह उन्नतिका लक्षण है। भगवान्‌की जबतक प्राप्ति नहीं हो जाती, तबतक असन्तोष बना रहना स्वाभाविक है।

जहाँ कुतर्क है वहाँ प्रेम नहीं रह सकता।

प्रेमी वही है जिसे बिना प्यारेके एक क्षण भी न रहा जाय।

जो षडैश्वर्ययुक्त भगवान् श्रीकृष्णमें प्रेम करते हैं उन्हें प्रेमी कहते हैं; तथा जो इस लोक-परलोक एवं अणिमादिक सिद्धियोंको त्यागकर भगवान्‌में आसक्त हैं वे ही प्रेमी हैं।

प्रेमीके अन्दर काम, क्रोध, लोभ, मोह, ईर्षादि रहते ही नहीं, वह तो प्रेममें मग्न रहता है। भक्तिका फल प्रेम है, प्रेमका स्वरूप अनिर्वचनीय है। प्रेम मन-वाणीका विषय नहीं है। प्रेममें शास्त्रका प्रवेश नहीं है। नारायणस्वामीजी भी कहते हैं—

प्रेमी बिन या प्रेमकी, और न जाने सार।
नारायण बिन जौहरी, जैसे लाल बजार॥

प्रेमी भगवान्‌के ऐश्वर्यको भुला देता है अर्थात् भगवान् अपने ऐश्वर्यको प्रेमीके सामने भूल जाते हैं। जैसे वे ग्वाल-बालोंके साथ अपना ऐश्वर्य भूल गये थे। ग्वाल-बाल खूब गुट्ठ (मुक्के) लगाते थे। और भगवान्‌ने यहाँतक कह दिया कि मैं तुम्हारा ऋणी हूँ। भला भगवान् किसके ऋणी हैं? परन्तु उन्होंने एकनाथजीके यहाँ बारह सालतक जल भरा। यह सब प्रेमके ही कारण हुआ।

प्रेमी अपने प्यारेके सुखमें सुखी होता है। जिस समय गौरांग महाप्रभु श्रीजगन्नाथजीसे मथुरा आ रहे थे रास्तेमें आपके श्रीकृष्णप्रेमभरे कीर्तनको सुनकर कुत्ते, शेर, हिरण और पक्षी आदि सभी जीव शान्त और प्रेममें मस्त हो जाते थे।

कामीकी और प्रेमीकी एक दशा होती है। परन्तु काम नरककी निशानी है और प्रेमी भगवत्स्वरूप हो जाता है। प्रेम अलौकिक है और काम लौकिक। प्रेमपन्थ अत्यन्त कठिन है। इसमें जान-माल सर्वस्व लुटाना पड़ता है, सभीको स्वाहा करना पड़ता है!

व्रजके प्रेमी महात्मा नारायणस्वामीके कुछ प्रेमसम्बन्धी दोहे मुझे बहुत पसन्द हैं। नारायणस्वामी बड़े भारी प्रेमी महात्मा हुए हैं—

प्रेममगन गद्गद गिरा, कढ़ै न मुखसे बात।
नारायण महबूब बिन, और न कछू सुहात॥

मनमें लागी चटपटी, कब निरखूँ घनश्याम।
नारायण भूल्यो सभी, खान पान विश्राम॥
नारायण हरिलगनमें ये पाँचों न सुहात।
विषयभोग, निद्रा, हँसी, जगत्-प्रीति, बहु बात॥
ब्रह्मादिकके भोग सब, विषसम लागत ताहि।
नारायण ब्रजचन्द्रकी, लगन लगी है जाहि॥

भगवद्विग्रहदर्शन, भगवच्चिन्तन, भगवद्गुणानुवाद, भगवद्-भक्तोंके साथ सत्संग, भगवत्सेवा, भगवद्भक्तोंकी सेवा—ये प्रेमके साधन हैं।

हृदयमें श्रीभगवान्‌का ध्यान हो, शरीरमें रोमाञ्च हो, जिह्वामें नामका जप हो, और नेत्रोंसे अश्रुधारा बहती हो—इससे बढ़कर भक्तका और क्या सौभाग्य हो सकता है!

आजकल जो टेलीफोन है उससे मनुष्य केवल बात कर सकता है। परन्तु भक्तोंका टेलीफोन इससे विचित्र ही होता है। देखो द्रौपदीने भगवान्‌को पुकारा और झटसे भगवान् आ गये। गजने पुकारा फौरन नंगे पैरों आये। इसलिये वह उसकी अपेक्षा बहुत विचित्र है।

तल्लीनता बिना भगवद्दर्शन नहीं हो सकता।

गोसाईंजी कहते हैं 'सियाराममय सब जग जानी' परन्तु मैं तो कहता हूँ कि सब सियाराम ही सियाराम है।

ज्ञानखण्ड

सदाशिव

नमः शिवाय निःशेषक्लेशप्रशमशालिने। त्रिगुणग्रन्थिदुर्भेद्यभवबन्धविभेदिने॥

उपयोगी साधन

प्र०—चित्तशुद्धिका साधन क्या है और यह कब समझना चाहिये कि चित्त शुद्ध हो गया ?

उ०—चित्तशुद्धिके लिये दो बातोंकी आवश्यकता है—विवेक और ध्यान । केवल आत्मा-अनात्माका विवेक होनेपर भी यदि ध्यानके द्वारा उसकी पुष्टि नहीं की जायगी तो वह स्थिर नहीं रह सकता। इसके सिवा इस बातकी भी बहुत आवश्यकता है कि हम दूसरोंके दोष न देखकर निरन्तर अपने चित्तकी परीक्षा करते रहें।

जिस समय चित्तमें राग-द्वेषका अभाव हो जाय और चित्त किसी भी दृश्य पदार्थमें आसक्त न हो उस समय समझना चाहिये कि चित्त शुद्ध हुआ । परन्तु राग-द्वेषसे मुक्त होनेके लिये परमात्मा और महापुरुषोंके प्रति राग होना तो परम आवश्यक है ।

प्र०—राग-द्वेष किन्हें कहते हैं ?

उ०—जिस समय मनुष्य नीतिको भूल जाय, उसे सदाचारके नियमोंका कोई ध्यान न रहे, तब समझना चाहिये कि वह राग-द्वेषके अधीन हुआ है। राग-द्वेषका मूल अहंकार है। अहंकारके आश्रित ही ममता और परत्वकी भावनाएँ रहती हैं। ममता ही राग है—परत्व ही द्वेष है।

प्र०—समयको किस प्रकार बिताना चाहिये ?

उ०—सबके लिये एक मत नहीं है, जो गुरुके पास रहनेवाले भक्त हैं उनको गुरुकी सेवामें अधिक समय लगाकर भजनमें कम समय लगाना चाहिये। और जो गुरुके समीप नहीं रहते उन्हें भजनमें अधिक समय लगाना चाहिये। यदि गुरु सेवा न कराते हों तो भजनमें ही अधिक समय लगाना चाहिये। गुरु गृहस्थ हों तो उनकी सेवा करनेकी जरूरत रहती है, यदि वे भी सेवा स्वीकृत न करें तो भजनमें ही अधिक समय लगावे। विरक्त संन्यासीको धन नहीं देना चाहिये। उन्हें धन देनेसे पाप लगता है। सबको अधिक समय तो भजनमें ही लगानेकी चेष्टा करनी चाहिये।

प्र०—भगवान् तो हमें दीखते नहीं इसलिये उनको शरण कैसे हों ?

उ०—विराट् स्वरूप भगवान् तो हमें दीखते ही हैं; शक्ति, शान्ति और सौन्दर्य—ये भगवान्‌के ही स्वरूप हैं।

प्र०—सबका सर्वोच्च ध्येय क्या होना चाहिये ?

उ०—'परमानन्दकी प्राप्ति और दुःखोंकी आत्यन्तिक निवृत्ति' ही सबका ध्येय होना चाहिये। उनके साधन हैं—

१—निष्काम भावसे परोपकार—प्राणिमात्रकी सेवा।

२—भगवद्विग्रह और भगवद्भक्तोंकी सेवा।

३—भगवन्नामजप और ध्यान।

प्र०—विधवा स्त्रीको भगवत्प्राप्तिके लिये क्या करना चाहिये?

उ०—भगवान्‌को सर्वस्व समझकर उनमें प्रेम करना और शास्त्रोक्त वैधव्यधर्मका पालन करते हुए जीवन निर्वाह करना यह विधवा स्त्रीका धर्म है। स्त्रियोंके लिये सेव्य-सेवकभाव ही उत्तम है। यह सबके लिये उत्तम है किन्तु स्त्रियोंके लिये तो इसके सिवा कोई भी भाव उपयोगी नहीं है। और भावोंमें पतनकी सम्भावना है। इस भावमें भय रहता है इसलिये इसमें पतनकी सम्भावना नहीं है। यह स्वामी-सेवकभाव ही सबके लिये सर्वोत्तम है।

सत्संग, भगवत्सेवा, श्रीमद्भागवतका पाठ और भगवन्नाम-कीर्तन—ये भगवत्प्राप्तिके साधन हैं।

शरीर, वाणी, धन और अन्तःकरण किस प्रकार शुद्ध होता है?

(१) झूठ, हिंसा और व्यभिचारके त्यागसे शरीर शुद्ध होता है।

(२) भगवन्नामके जपसे वाणी शुद्ध होती है।

(३) दानसे धन शुद्ध होता है।

(४) धारणा और ध्यानसे अन्तःकरण शुद्ध होता है।

सिर्फ चार बातोंसे ज्ञानकी प्राप्ति होती है—

(१) कथा-पुराण सुननेसे ।

(२) लोगोंका मरना देखकर अपनी मृत्युका विचार करनेसे ।

(३) साधु-महात्मा, विरक्त पुरुषोंकी संगति करनेसे ।

(४) संसारी व्यवहारको झूठा समझनेसे ।

राजसिंहासनपर बैठते ही राजाके समीप मन्त्री तथा अन्य कर्मचारी आ जाते हैं, उसी भाँति अविवेकके उदय होते ही काम, क्रोध, मद, लोभ आदि आ जाते हैं। 'अहं' के उदय होते ही स्वस्थता नष्ट हो जाती है। स्वस्थताके मानी हैं—'स्व' में स्थित होना ।

'स्व' में तुम तभी स्थित रह सकोगे, जब तुम अपने 'अहं' को अलग कर दोगे। तुम अभ्यासी बनो, त्यागी बनो। बिना अभ्यासके आगे नहीं बढ़ सकते। ज्यों ही अभ्यासमें प्रमाद करोगे, त्यों ही चित्तमें नाना तरहकी स्फुरणाएँ होनी प्रारम्भ हो जायँगी ।

जबतक काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि चित्ताकाशमें डेरा डाले पड़े हैं, तबतक न तो ज्ञानकी प्राप्ति हो सकती है और न भक्ति-तत्त्वकी ही उपलब्धि हो सकती है ।

जबतक ज्ञानका 'अहं' है, तबतक ज्ञानी नहीं कहा जा सकता। जबतक भक्तिका 'अहं' है, तबतक भक्त नहीं कहा जा सकता ।

अज्ञान, अविवेकका नाश करना ज्ञान तथा प्रेम-तत्त्वको आमन्त्रित करना है। सारे अज्ञान एवं अविवेककी सृष्टि 'अहं' ने की है। इसलिये 'अहं' को ही अपराधी समझकर गिरफ्तार करो। उसीका नाश करो। 'अहं' का नाश होते ही दिव्यताका अनुभव होने लगेगा। फिर तुम अपने अन्दर एक बढ़ती हुई ज्योतिका अनुभव करने लगोगे।

यदि तुम ज्ञानकी प्राप्ति करना चाहते हो तो आवश्यकता इस बातकी है कि देश, जाति तथा शरीरकी आसक्तिको अलग करो।

जो चित्त दृश्य जगत्में आसक्त है, वह परमतत्त्वका चिन्तन नहीं कर सकता। जिस अवस्थामें पहुँचनेके लिये तुम तड़प रहे हो, उसके समीप पहुँचनेके पूर्व तुम्हें बहुत-से कामोंको समाप्त करना होगा। अपनी सारी बुराइयोंको दूर करके सात्त्विक संसारमें उतरना होगा।

क्रोध पापका प्रधान कारण है। पापियोंका चिह्न क्रोध है। जिसमें क्रोध है, चाहे वह कोई भी हो, उसे पापी समझना चाहिये। राग-द्वेष-मिश्रित क्रोध मनुष्यको उत्थान-प्रगतिकी ओर जानेसे रोकता है। विशेषतया गुरुजनों और श्रेष्ठजनोंके प्रति क्रोध करना ही नहीं चाहिये।

जिस किसीने रागद्वेषमय जीवन बिताया है, वही उन्नतिकी सुनहली पगडण्डीपर चलनेसे वञ्चित रहा है। आवश्यकता है उद्दण्ड मनपर शासन करनेकी।

गीताका एक श्लोक मुझे बहुत ही पसंद है। यह सबके लिये उपयोगी है। सभी सम्प्रदायके लोग इससे लाभ उठा सकते हैं।

अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना।
परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन्॥ (८।८)

जिसने अभ्यासमय जीवन विताया है, उसीने परम दिव्य पुरुषकी प्राप्ति की है।

भेरिया (भृगुक्षेत्र) के बंगालीबाबा सुनाया करते थे। एक बार ऋषिकेशकी झाड़ीमें साधु-महात्माओंका सत्संग हो रहा था। सभी अपने-अपने अनुभव प्रकट कर रहे थे। इतनेमें झाड़ीमेंसे एक बूढ़ा साधु निकला। लोगोंके बहुत आग्रह करनेपर वृद्ध साधुने कहा—'साधन दो तरहके हैं—(१) अन्तरंग और (२) बहिरंग। दोनों ही आवश्यक हैं। (१) निरन्तर चिन्तन करते रहना चाहिये, किसी क्षण भी चित्तमें 'तत्त्वचिन्तन' से इतर विचार न होने चाहिये। (२) प्रतिग्रह (दूसरेसे लेना), परिग्रह (सञ्चय करना), उपग्रह (बार-बार खाना), परचर्चा (निन्दा-स्तुति करना) इन चारोंसे बच जाय तो भजनका फल प्राप्त हो।

अविवेकीके लिये शास्त्र भारस्वरूप प्रतीत होता है, रागीको ज्ञान भार है, अशान्त लोगोंको मन भार है। अनात्मदर्शीको शरीर भार है। इसी आशयका एक श्लोक है—

भारोऽविवेकिनः शास्त्रं भारो ज्ञानं च रागिणाम्।
अशान्तस्य मनो भारो भारोऽनात्मविदो वपुः॥

शुद्धि छः तरहकी होती है—मनकी शुद्धि, वाणीकी शुद्धि, अन्न-शुद्धि, हस्त-शुद्धि, कच्छ-शुद्धि, क्रिया-शुद्धि।

मनकी शुद्धि—मनको विषय-भोगके पदार्थोंसे पृथक् करके सत्य चिन्तन करनेसे होती है।

वाणीकी शुद्धि—सत्य, मधुर, सरल भाषण तथा श्रीहरिका गुणगान करनेसे होती है।

अन्न-शुद्धि—साधुके लिये भिक्षान्न पानेसे शुद्धि होती है; किन्तु गृहस्थियोंको शुद्ध आजीविका ही अपेक्षित है।

हस्त-शुद्धि—प्रतिग्रह न लेनेसे तथा हाथोंद्वारा शुभ कर्म करनेसे होती है।

कच्छ-शुद्धि—वीर्यकी रक्षा करनेसे, पूर्ण ब्रह्मचर्यमय जीवन बितानेसे होती है।

क्रिया-शुद्धि—शुद्ध, निष्कपट व्यवहार करनेसे होती है। प्रत्येक कार्यमें शुद्धता होनी चाहिये।

प्रेम या भयके बिना वैराग्य नहीं होता। भय इस बातसे होना चाहिये कि ये सब वस्तुएँ भगवान्‌की हैं, इन्हें मुझे अपने काममें नहीं लाना चाहिये—इन्हें अपनी समझकर भोगना पाप है। इस प्रकार जब भगवान्‌की तरफ मन लग जायगा तब विषयोंमें और विषयी लोगोंमें तुम्हारा मन नहीं लगेगा। भगवान्‌में प्रेम न होनेसे ही अन्य पदार्थोंमें मन जाता है। जबतक बड़प्पन-का अभिमान रहेगा तबतक प्रेम या वैराग्य नहीं हो सकता।

क्रोध न करनेकी प्रतिज्ञा करनेसे क्रोधका त्याग हो सकेगा, यदि किसी दिन क्रोध आ जाय तो उस दिन उपवास करो।

× × × ×

राग-द्वेष किस प्रकार दूर किया जाय? पहले शुभ कर्मका आचरण और अशुभका त्याग करे। त्यागद्वारा अन्तःकरण शुद्ध हो जानेसे साधक ईश्वरोपासनाका अधिकारी होता है। फिर उपासना करनी चाहिये। उपासना परिपक्व हो जानेपर भगवान्‌का मिलन होता है। भगवान्‌के मिलनसे राग-द्वेष जाता रहता है और ईश्वर, जीव तथा जगत्‌का पूर्ण तथा यथार्थ ज्ञान हो जाता है।

प्रेम सत्त्वगुण, काम रजोगुण और प्रमाद या मोह तमोगुण हैं। सत्त्वगुण हुए बिना ज्ञान नहीं होता। अतः प्रेम परमार्थ है और काम स्वार्थ है। जहाँ स्वार्थ है वहाँ काम है। जिस समय स्वार्थ नहीं रहता, उसी समय प्रेम होता है।

जीवका स्वभाव प्रेम करना है। ज्ञानीका प्रेम वैराग्यमें होता है, कामीका प्रेम संसारमें होता है और भक्तका प्रेम भगवान्‌में होता है। ज्ञानी शिवरूप है, वह कामका शत्रु है; भक्त विष्णुरूप है, काम उसके अधीन है; तथा मन ब्रह्मारूप है, संसार उसकी सन्तान है।

ज्ञान अज्ञानका नाश करता है, व्यवहारका नाश नहीं करता। दैवी सम्पत्ति ज्ञानको पुष्ट करती है और आसुरी उसका आच्छादन करती है। इसलिये शुभ कर्मको छोड़ना नहीं चाहिये। चित्तका स्वभाव ही चिन्तन करना है। शुभ कर्म छोड़ देनेसे

चित्त विषय-चिन्तन करेगा। कर्म बुद्धिका विषय है, साक्षीका नहीं। अतः विचारवान् पुरुष कर्म करता हुआ उसका साक्षी बना रहे।

जो परमात्माके दर्शन करना चाहे, सदा सुख भोगना चाहे तथा भव-बन्धनसे छूटना चाहे उसे कामिनी और काञ्चनमें आसक्ति नहीं रखनी चाहिये, जो इनमें मन लगाये रहते हैं उन्हें सिद्धि नहीं मिलती। भगवान् उनसे सदा दूर रहते हैं।

जिसका रूप और शब्दमें थोड़ा-सा भी अनुराग है वह सगुणोपासनाका ही अधिकारी है। निर्गुणोपासनाका अधिकारी वही है जिसका रूप या शब्दमें बिल्कुल प्रेम न हो।

बंगलामें एक कहावत है 'येमनि मन तेमनि भगवान्' अर्थात् जैसा मन होता है वैसा ही भगवान् होता है। भगवान्‌का स्वरूप भक्तकी भावनाके अनुकूल ही है।

जिस भाषणसे सत्त्वगुण, ज्ञान और भक्तिकी वृद्धि हो तथा मन शान्त हो ऐसा भाषण करना ही मुख्य कर्तव्य है।

भगवत्स्मरण और भगवद्भक्तोंका संग करना ही भक्तोंका मुख्य कर्तव्य है।

निद्रा, तन्द्रा, आलस्य, विक्षेप और संशय ये सब साधनके विघ्न हैं।

श्रद्धा, भक्ति, नम्रता, उत्साह, धैर्य, मिताहार, आचार, शरीर, वस्त्र और गृह आदिकी पवित्रता, सच्चिन्ता, इन्द्रिय-संयम

और सदाचरणका सेवन तथा कुचिन्ता और कुसंगका सर्वथा परित्याग ये सब सत्त्वगुणको बढ़ानेवाले हैं।

भगवच्चिन्तामें समय व्यतीत करना मनुष्यका मुख्य कर्तव्य है। भक्तको भगवान्‌की सम्पत्तिका अपव्यय करना महापाप है।

अनावश्यक भाषणका परित्याग करना चाहिये।

सर्वदा नियम-निष्ठामें तत्पर रहना चाहिये, मन प्रसन्न रखनेके लिये प्रयत्न करना चाहिये तथा भगवान्‌को सर्वव्यापक समझकर ईर्ष्या, द्वेष, घृणा, शत्रुता और कुत्सितभावका त्याग करना चाहिये।

अनावश्यक कर्मका परित्याग करना चाहिये; तथा 'भगवान् सर्वदा मेरे समीप हैं' ऐसा निश्चय रखना चाहिये। सरलता भक्तिमार्गका सोपान है तथा सन्देह और कपट अवनतिका चिह्न है।

शारीरिक स्वास्थ्य, संयम एवं भगवत्-सेवा ही भगवत्प्राप्तिका मुख्य साधन है।

संसारकी चमकीली वस्तुओंको देखकर अपनेको न भूल जाना चाहिये।

विश्वास करो फल अवश्य मिलेगा।

रोते-रोते आये हो ऐसा काम करो कि हँसते-हँसते जाओ।

न्याय-मर्यादाका उल्लंघन न करना चाहिये।

हे भगवन्! आप मुझे जिस प्रकार रक्खेंगे मुझे उसी प्रकार रहना स्वीकार है। आपसे मेरी यही प्रार्थना है कि मैं आपको न भूलूँ।

शरीरके लिये आहार है, आहारके लिये शरीर नहीं।

भक्त सच्छास्त्र, सत्संग, सदालोचना, सद्विचार और सत्कर्मकी सहायतासे भगवान्के प्रेममयत्व, मंगलमयत्व, सर्वमयत्व, ज्ञानमयत्व और सर्वकर्तृत्वका अनुभव करनेके योग्य होता है।

यदि मनुष्यको प्रेमी, निःस्वार्थी, उदार-प्रकृति, निरभिमान, श्रोत्रिय और भगवन्निष्ठ गुरु प्राप्त हो तो उनके ही चरणकमलोंमें आत्मविसर्जन करना मनुष्यका मुख्य कर्तव्य है।

गुरुभक्ति और गुरुदत्त साधनमें आसक्ति न होनेसे शिष्यकी उन्नति होनी असम्भव है।

गुरु और ईश्वरकी कृपा प्राप्त किया हुआ भक्त भी प्रारब्धवश श्रद्धाहीन, दुर्बुद्धि या अभिमानी होनेसे उनकी कृपासे वञ्चित हो जाता है।

रामचन्द्रके निकट लक्ष्मणकी तरह गुरुके समीप निरभिमान होना चाहिये। स्वाधीनताका परित्यागकर गुरुके अधीन होना चाहिये। गुरुके प्रति अविचल श्रद्धा रखकर निष्कपट प्रेमपूर्वक तन, मन, धनसे सेवा करनी चाहिये। ऐसे प्रेमी भक्तको गुरुकृपा शीघ्र प्राप्त होती है।

भगवत्-विषयका प्रश्नकर्ता, उत्तरदाता एवं श्रोता तीनों ही पवित्र होते हैं।

हे जगन्मंगल! हे परमपिता! मेरी वाणी आपके गुणकीर्तनमें, कर्ण महिमा-श्रवणमें, हाथ युगल-चरण-सेवामें, चित्त

चरण-चिन्तनमें, मस्तक प्रणाममें और दृष्टि आपके स्वरूपभूत साधुओंके दर्शनमें नियुक्त रहे।

भगवान्‌का नित्य स्मरण ही ज्ञान, भक्ति और वैराग्यका उपाय है।

भक्त मोक्षकी आशा नहीं करता, कामना-रहित भगवत्प्रेम ही उसका एकमात्र प्रयोजन है।

जैसे निरन्तर विषय-चिन्तन करनेसे विषयमें आसक्ति होती है वैसे ही भगवच्चिन्तन करनेसे भगवान्‌में अनुराग होता है।

भगवान् मेरे समीप हैं और सदा रक्षा करते हैं ऐसा निश्चय करना चाहिये।

मौन, चेष्टाहीनता और प्राणायामसे शरीर, मन और वाणी वशीभूत होते हैं।

गार्हस्थ्यसम्बन्धी कार्य यथासमय नियमानुकूल सम्पादन करनेसे भजनमें सहायता मिलती है।

जबतक क्रोध, द्वेष, कपट, स्वार्थपरता, अभिमान और लोकनिन्दाका भय हमारे हृदयमें विद्यमान रहेगा तबतक कठोर तप करनेपर भी भक्ति-लाभ करना दुष्कर है।

ब्रह्मचर्यमय जीवन परम पुरुषार्थमय जीवन है।

सद्भाषण, सद्विचार, सद्भावना और न्यायनिष्ठाका परित्याग-कर बाह्य आडम्बरसे धर्मात्मा नहीं बन सकता।

जो भक्त ब्रह्मचर्य धारणकर, शेष रात्रिमें ध्यान-भजनका

अभ्यास करता है, उसको प्रातःकाल स्नान करनेकी आवश्यकता नहीं है।

रसास्वादके लोभसे भोजन करनेसे तमोगुण बढ़ता है। रसनेन्द्रिय वशीभूत न होनेसे अन्य इन्द्रियाँ वश नहीं होतीं।

सन्ध्या-समय भोजन न करना चाहिये। भोजनके समय भाषण न करना चाहिये। भोजनसे पहले हाथ-पैर धोना चाहिये और पवित्र वस्त्र धारणकर पवित्र स्थानमें उत्तर अथवा पूर्व मुख होकर भोजन करना चाहिये। तामस भोजन सर्वदा वर्जनीय है। दूसरोंके अवगुणोंका देखना ही अवनतिका कारण है। प्रत्येक व्यक्तिसे गुण ग्रहण करना ही उन्नतिका कारण है।

अहितकारीके प्रति क्षमा तथा सम्पत्-विपत्, मान-अपमान और सुख-दुःखमें समचित्त रहना ही भक्तका लक्षण है।

राग-द्वेष, अल्प ज्ञान और अभिमान जीवके बन्धन हैं।

कुचिन्ता, कुप्रवृत्ति और कुसंग अवनति है तथा सच्चिन्ता, सत्प्रवृत्ति और सत्संग उन्नतिका उपाय है।

विश्वास ही फल-लाभका उपाय है।

देवता, वेद, गुरु, मन्त्र, तीर्थ, ओषधि और महात्मा ये सब श्रद्धासे फल देते हैं, तर्कसे नहीं।

अनेक विघ्न होनेपर भी जो धीर कर्तव्यसे चलायमान नहीं होता वही भगवान्का कृपापात्र है।

दया, तितिक्षा, संयम, वैराग्य, अमानित्व, अदम्भित्व, शिष्टा-

चार, सत्यपरायणता, सदाचार, असूयारहित उत्साह, अध्यवसाय और अव्यभिचारिणी भक्ति ये सब उन्नतिके लिये आवश्यक हैं।

अधिक भाषण करना मिथ्यावादीका चिह्न है।

हास्य-परिहास करना, तमाशा देखना, छलसे बात करना और अन्यायसे दूसरोंका धन हरण करना अभक्तोंका लक्षण है।

दूसरोंकी समालोचना न करना वैराग्यका लक्षण है।

अधिक जप करनेसे शरीरके परमाणु मन्त्राकार हो जाते हैं।

विद्वान् होकर शान्त रहना अर्थात् वाद-विवाद न करना श्रेष्ठ पुरुषोंका लक्षण है।

श्रद्धापूर्वक विधिवत् तीर्थभ्रमण करनेसे चित्त-शुद्धि होती है। तीर्थोंमें कुभावनाके उदय होनेसे पाप-संग्रह होता है।

'मैं दुर्बल हूँ', 'मैं अपवित्र हूँ' यह मनकी दुर्बलताका लक्षण है, धैर्य एवं उत्साहसे कार्यमें तत्पर होना पवित्र मनका लक्षण है।

मन शान्त रहना ही आरोग्य शरीरका लक्षण है।

प्रातः, मध्याह्न, सन्ध्या-समय और शेष रात्रिमें ध्यान करनेसे विशेष एकाग्रता होती है। मन्त्र-ध्यान स्थूल है, चिन्तामय ध्यान सूक्ष्म है और चिन्तारहित परा-भक्ति है।

विधर्म, परधर्म, धर्माभाव, उपधर्म और छलधर्म भी अधर्मकी नाईं त्यागने योग्य हैं।

आलस्य, अनुसन्धानका त्याग, संसारी मनुष्योंसे भय एवं वासना भगवद्भक्तिके विघ्न हैं।

भक्तको भगवान्, भजन और गुरुवाक्य इनको छोड़कर और किसीमें श्रद्धा नहीं होती।

जिस दिन भक्त गुरुकी शरणमें जाता है, उस दिन उसे नया जन्म प्राप्त होता है।

काम-क्रोधादि मनकी तरंगें हैं; मन शान्त हो जानेसे ज्ञान, विज्ञान, वैराग्य और आनन्द प्राप्त होते हैं।

ध्यान अधिक होनेसे मनकी शान्ति होती है। जिस दिन ध्यान अधिक हो और जप कम हो, उस दिन कोई चिन्ता न करनी चाहिये किन्तु यदि जप अधिक हो, ध्यान कम हो तो उसके लिये चिन्तित होना चाहिये।

जप और ध्यानमें चित्त न लगनेपर जिस पुस्तकमें तुम्हारा अधिक प्रेम हो, उसका पाठ करो। अधिक पुस्तकें देखना भी भजनका विघ्न ही है।

वायुरहित स्थानमें निष्कम्प, स्थिर और शान्तभावसे आधा-आधा घंटा बैठनेका अभ्यास करो।

भोग्यवस्तुके साथ अधिक प्रेम होनेसे चित्त नीचे जानेकी सम्भावना है, इस बातको अच्छी तरह याद रक्खो।

प्रीति, सन्तोष, प्रसन्नता, उत्साह, धैर्य, साहस और निर्भयता भगवत्प्राप्तिके सहायक हैं।

भक्तके लिये गुरु-आज्ञा ही भक्तिका मार्ग दिखानेवाली एवं चित्तको शान्त करनेवाली है।

जिस विषयको ग्रहण करके अनेक विघ्न होनेपर भी त्यागनेकी सामर्थ्य न हो, उसीको निष्ठा समझना चाहिये। निष्ठा अनेक प्रकारकी है। जैसे—धर्मनिष्ठा, नियमनिष्ठा, समयनिष्ठा, भक्तिनिष्ठा और ज्ञाननिष्ठा आदि।

शारीरिक स्वास्थ्यसे मनकी शान्ति होती है। अति भोजन और अपथ्य भोजन सर्वथा त्याज्य है। जिस वस्तुको खानेसे शरीरमें रोग उत्पन्न हो उसे सर्वथा त्याग करना चाहिये। भजन, भोजन और निद्रा प्रतिदिन नियत समयमें ही होनी चाहिये। बिछौना, ओढ़ना और वासस्थान परिष्कृत रखना चाहिये, किन्तु विलासिताका सर्वथा त्याग करना चाहिये। शिष्टाचारको कभी न छोड़ना चाहिये। हाँ, परनिन्दा अवश्य त्याग करना चाहिये।

आलस्य सबसे अधिक विघ्नकारक है। आलस्यसे शरीर और मन दोनों ही दुर्बल होते हैं।

भगवन्नाम-स्मरण करनेके लिये सुसमय-कुसमय, शुचि-अशुचि अथवा सुस्थान-कुस्थानका विचार न करना चाहिये।

जिस समय विघ्न उपस्थित हो, उस समय सरल भावसे भगवान्‌की प्रार्थना करनी चाहिये।

ध्यानारम्भके समय प्रथम ध्येय-मूर्तिके चरणसे मस्तकपर्यन्त मनको घुमाना चाहिये और पहले छः मिनिटसे अधिक ध्यान न करना चाहिये।

इष्टदेवमें प्रेम होनेसे निद्रा नहीं आती।

विश्वास और निर्भरता होनेसे निद्रा आदि सम्पूर्ण दोष दूर हो जायँगे ।

जो व्यक्ति कुप्रवृत्तिमें तत्पर, मनुष्यत्व-हीन, संसार-विष्ठाका कृमि, पशुधर्मी, मोहान्ध, उन्नतिकी आशासे रहित तथा प्रवृत्ति-परायण होता है, उसे भगवत्प्राप्ति नहीं होती ।

जो व्यक्ति विचारपरायण, सत्यनिष्ठ, संयमशील, शान्तिकामी, दुःख-निवृत्तिमें तत्पर, पवित्रताका ही आदर्श रखनेवाला, भगवान्‌को ही लक्ष्य बनानेवाला, श्रद्धा और वीर्यको ही बन्धु बनानेवाला तथा भगवन्नामका ही आभूषण पहननेवाला होता है, वह भगवान्‌को प्रेमरज्जुसे बाँध लेता है ।

जिस प्रकार सुकरातने प्रसन्न वदनसे विष-पान कर लिया, किन्तु सत्य नहीं त्यागा, हरिदासने काजीके अत्याचारसे हरिनाम नहीं त्यागा, हिरण्यकशिपुके अत्याचारसे प्रह्लाद विचलित नहीं हुआ, इसी प्रकार धर्मनिष्ठ, सत्यवादी, कर्तव्यपरायण भगवद्भक्तको भगवन्निष्ठासे विचलित न होना चाहिये ।

साधकके लिये लोकसंग्रह अत्यन्त विघ्नकारी है तथा ब्रह्मचर्य, सरलता, निर्भरता और वैराग्य सहायक हैं । साधन परिपक्व हो जानेपर लोक-संग्रह हानिकारक नहीं होता ।

भगवान्‌की दया और निजकी चेष्टा दोनोंसे ही उन्नति होती है । वृद्धावस्थामें भगवत्प्राप्तिकी इच्छा होनेपर भी भक्ति-लाभ होना कठिन है । भगवद्भक्तको प्रत्येक कार्यके आरम्भमें भगवान्‌का ध्यान करना चाहिये ।

निद्रा, घृणा, द्वेष और अभिमान जीवके लिये बन्धनकी शृंखला हैं।

समय व्यर्थ न बिताना चाहिये। जिस समय कोई काम न हो उस समय जप, मानसपूजा अथवा सद्ग्रन्थोंका पाठ करना चाहिये।

मनमें कुत्सित चिन्ता उत्पन्न होनेसे उसके हटानेके लिये जप अथवा धर्मचिन्ता या वैराग्यभावना करनी चाहिये।

प्रथम ध्यान एवं मानस-पूजाका अभ्यास बढ़ाकर मन स्थिर करनेकी चेष्टा करनी चाहिये। मन अधिक ठहरनेसे भगवान्‌में अनुराग उत्पन्न होता है। पहले-पहल मन ठहरना कठिन होता है। मन न लगे तो मानसिक जप करना चाहिये। कुछ काल अभ्यास करनेके पश्चात् थोड़ा-थोड़ा आनन्द आने लगता है, फिर कुछ समयतक अभ्यास दृढ़ हो जानेसे अधिक ध्यान करनेका उत्साह उत्पन्न होता है। उसके बाद ध्यानकी मात्रा अधिक हो जानेसे चित्त भगवत्प्रेममें डूब जाता है। यही अवस्था साधनका पूर्ण पद है। इसी अवस्थाको भगवत्साक्षात्कार समझना चाहिये।

साक्षात्कार तीन प्रकारका होता है—(१) इष्टदेवका प्रत्यक्ष दर्शन, (२) स्वप्नदर्शन और (३) तल्लीनता। इनमें स्वप्नदर्शन अधम, प्रत्यक्ष दर्शन मध्यम और तल्लीनता उत्तम है। तल्लीनताके पश्चात् साधक जगत्‌को स्वप्नवत् देखता है। जबतक ऐसा शुभ दिन प्राप्त न हो, तबतक कष्ट सहन करके श्रद्धा और धैर्यके साथ भजन-साधन करना चाहिये। कितने ही साधक संसारी कर्म

त्यागकर दिन-रात जप करते रहते हैं परन्तु किसी प्रकारका कष्ट उपस्थित होनेपर वे उसे सहन करनेमें असमर्थ होते हैं, इसका कारण केवल ध्यानका अभाव है। इसलिये जपके साथ ध्यान, मानसपूजा और ईश्वरप्रार्थना भी करनी चाहिये।

प्रतिदिन नियत समयमें इष्टदेवको हृदयसिंहासनपर विराजमान कर मानसिक द्रव्यद्वारा पूजा करनी चाहिये। पूजाके उपरान्त जप आरम्भ करना चाहिये। नाम-जपसे सम्पूर्ण पापोंका क्षय एवं सम्पूर्ण कामनाएँ पूर्ण हो जाती हैं। अन्य चिन्ताएँ त्यागकर यथासाध्य नाम-जप करना ही मंगल है। साधकके लिये नाम-जप, सद्ग्रन्थ-पाठ, पवित्रता और नियम-निष्ठा भक्ति-पथमें सहायक हैं।

सम्पूर्ण नदियोंका जल गंगाजीमें मिलकर गंगारूप हो जाता है। भगवान्को निवेदन करनेसे सम्पूर्ण पदार्थ पवित्र हो जाते हैं। भक्तिमार्ग ज्ञानमार्गकी अपेक्षा सरल और सुमधुर है, किन्तु श्रद्धाहीन तर्कवादीको दुर्लभ है।

भक्तके लिये 'संसार नित्य है या अनित्य' यह विचार करना आवश्यक नहीं है, उसे तो जो कुछ दिखलायी देता है वह लीलामय पुरुषोत्तमका लीलास्थान है।

भक्तके लिये नाम-स्मरण तथा ध्येय-मूर्तिको प्रेमके साथ देखना ही मुख्य साधन है। देखनेका अभ्यास जितना अधिक होगा चित्तकी चञ्चलता उतनी ही कम होगी।

वाणीके मौनसे कोई मुनि नहीं होता । मनकी चञ्चलताके अभावसे मुनि होते हैं ।

भजनमें चार विघ्न हैं—लय, विक्षेप, कषाय और रसास्वाद । लय—ध्यानके आरम्भमें निद्रा-तन्द्रासे ध्येयको भूल जाना ही लय है । विक्षेप—ध्यानके समय अगली-पिछली बातें याद करना विक्षेप है । कषाय—ध्यानके समय राग-द्वेषका सूक्ष्म संस्कार चित्तमें रहनेसे शून्य हो जाना कषाय है । रसास्वाद—स्वल्प आनन्दमें ही अपनेको कृतकृत्य मान लेना रसास्वाद है ।

सत्कर्म और सच्चिन्तासे अपना और संसारका लाभ है तथा असत्कर्म और असच्चिन्तासे अपनी और संसारकी हानि है ।

भक्त निरन्तर अभ्यासके बलसे रागद्वेषरहित होकर विधि-निषेधरूपी भवसागरको पार कर जाता है ।

साधकको स्त्री, धन और नास्तिकसम्बन्धी चरित्रोंकी समालोचना नहीं करनी चाहिये ।

स्त्री और रजोगुणी पुरुषोंके संगसे भी नास्तिकोंका संग अत्यन्त विघ्नकारी है ।

भक्ति-परायण पुरुषोंको स्त्रियोंसे जितना भय होता है, भक्ति-परायणा स्त्रियोंको भी पुरुष उतना ही भयदायक है ।

वैराग्यके विषयमें

प्र०—वैराग्य किसे कहते हैं ?

उ०—विषय पासमें रहनेपर भी उसमें राग न हो। इन्द्रियोंके समीप विषय रहनेपर भी उनके भोगमें अरुचि होनेको वैराग्य कहते हैं, वैराग्य घरमें रहनेपर भी हो सकता है।

प्र०—त्याग किसे कहते हैं ?

उ०—वस्तुको स्वरूपसे त्याग देनेको त्याग कहते हैं।

प्र०—क्या त्यागके बिना भी वैराग्य हो सकता है ?

उ०—हो सकता है, कैसे ? प्रेम होनेसे।

प्र०—भगवत्प्रेमके लिये वैराग्यकी आवश्यकता है या नहीं ?

उ०—भगवत्प्रेम होनेसे वैराग्य होगा और वैराग्य होनेसे प्रेम होगा। इनका परस्पर अन्योन्यभाव है। अविनाभाव सम्बन्ध है, अर्थात् वैराग्यके बिना प्रेम नहीं होता और प्रेमके बिना वैराग्य नहीं होता।

किसीसे यों कहना—'दो' मरणके समान है। मर जाना भला है, किन्तु वाणीद्वारा अथवा अन्य किसी चेष्टाद्वारा अपनी आवश्यकताकी सूचना देना अपना पतन करना है। परोपकारके लिये भी माँगना अनुचित है। साधुको भूख लगनेपर मधुकरी माँग लेनी चाहिये। मधुकरी माँगना गृहस्थियोंको कृतार्थ करना है; किन्तु 'दो' इस शब्दके कहते ही शरीरमें स्थायीरूपसे रहनेवाले पाँच देवता चले जाते हैं। पाँच देव ये हैं—ह्री, श्री, धी, ज्ञान और गौरव। केवल माँगनेके संकल्पमात्रसे चेष्टामें मलिनता आ जाती है। माँगना बड़ा भारी पाप है।

कामिनी और काञ्चनसे बचना बहुत ही कठिन है। इनमें भी कामिनीसे तो बचना बहुत ही मुश्किल है। एक बार बंगाली बाबा मुझे सुनाते थे कि ऋषिकेशमें एक बड़े उच्च कोटिके महात्मा रहते थे। जब वे अपने पाञ्चभौतिक शरीरको त्यागने लगे तो उनके शिष्योंने कहा कि भगवन्! आज कृपा करके अपना अन्तिम उपदेश दीजिये। आपने अपने शिष्योंसे कहा कि देखो अगर लाहौरसे लेकर ऋषिकेशतक सुवर्णका पहाड़ हो तो मेरा मन उसे पानेके लिये चञ्चल न होगा, लेकिन अगर मुझे स्त्रियोंमें बिठला दिया जाय तो

मुझे उम्मीद नहीं कि मेरा मन चञ्चल न हो। उनके कहनेका अभिप्राय यह है कि कामिनीसे बचना बड़ा मुश्किल है।

मनुष्य सर्वदा सुख चाहता है किन्तु स्त्री, पुत्र और धन आदिमें प्रेम होनेसे सर्वदा दुःखमें ही संलग्न रहता है। पूर्वपुण्यके प्रभावसे सद्गुरु प्राप्त होनेपर वह भगवत्प्राप्तिके मार्गका पथिक बनता है। गुरुवाक्य और सत्-शास्त्रमें पूर्ण विश्वास होना ही परमलाभ है।

जगत्का कोई पदार्थ नित्य नहीं है। धन, विद्या, बुद्धि, गुण, गौरव आदि सभी मृत्युके साथ धूलमें मिल जाते हैं।

स्त्रियोंको भीख माँगकर खाना अत्यन्त शास्त्रविरुद्ध है। उन्हें न एकान्तमें जाना चाहिये न घर छोड़कर बाहर विचरना चाहिये। भ्रमण करनेवाली स्त्री भ्रष्ट हो जाती है। वेदान्त बहुत-सी स्त्रियाँ सुनती हैं परन्तु धारण कोई भी नहीं करती। भजन तो उसके द्वारा होता है जिसे क्रोधका संसर्ग भी न हो।

विरक्तके लिये

रोटीके सिवा कुछ न माँगे, चाहे मर जाय ।

जितना हो सके—तितिक्षा करे, सहन करे ।

कोई कितना ही दुःख दे, आनन्दपूर्वक सहे ।

संसारसे वैराग्य और साधनसे प्रेम करे ।

किसीको औषध आदि न बतावे ।

कितना भी चमत्कार हो, अपने लक्ष्यसे न हटे ।

कामिनी और काञ्चनका सम्बन्ध न करे ।

स्त्री और उसके संगियोंका त्याग करे ।

स्त्रीको देखते ही ऐसा विचार करे कि यह मलमूत्रका थैला है और मनसे उसको चीरकर देखे । ऐसा करनेसे कामविकार न होगा । (ऐसे ही स्त्री पुरुषके लिये समझे) ।

किसी प्रकारका नशा न करे ।

व्यर्थ प्रलापका सर्वथा त्याग करे ।

सारा संसार तुम्हें मोहनेको तैयार है। तुमको संसारसे युद्ध करना है। संसार एक तरफ और तुम एक तरफ हो ।

साधनसे एक मिनिट भी खाली रहना पाप है ।

तुम्हारा चित्त जितना ही भगवान्में लगेगा उतनी ही ताकत बढ़ेगी ।

संसार-चिन्तनसे तुम जितने ही उपराम होगे, संसार तुमसे उतना ही अधिक प्रेम करेगा।

जब भगवान्से पूर्ण प्रेम होगा तब संसार तुम्हारे अधीन हो जायगा ।

साधुको न तो भिक्षाकी चिन्ता करनी चाहिये और न संकल्प करके किसी खास दरवाजेपर ही जाना चाहिये। स्वाभाविक जहाँ कहीं भी रोटी मिल जाय, ले लेनी चाहिये। तत्त्वदर्शी साधुको चारों वर्णके यहाँसे रोटी ले लेनी चाहिये; किन्तु अछूत-जातिवालोंके यहाँसे नहीं ।

अछूत तो वे भी हैं जिनका जीवन व्यभिचारमय बीतता है। भोगरत प्राणी ही अछूत हैं। उनके स्पर्शमात्रसे अपवित्रताका सञ्चार हो जाता है। उनसे बचकर रहना चाहिये ।

भिक्षान्न सोम-अन्न है, अमृत है। इसके बराबर शुद्ध कोई अन्न नहीं है। साधुको सदैव भिक्षा करनी चाहिये। आजकलके साधु रेलमें यात्रा करते हैं, यह मुझे पसन्द नहीं। उन्हें पैदल भ्रमण

करना चाहिये। पैदल भ्रमणमें बड़े-बड़े अनुभव होते हैं। स्थायी वैराग्यका पता तो पैदल भ्रमणमें ही लगता है। सुख-दुःखका पूर्ण अनुभव हो जाता है।

रुपया-पैसा लेनेसे साधुका तप क्षीण हो जाता है, तपका नाश हो जाता है। अगर रुपये-पैसेकी ही इच्छा है तो गृहस्थमें क्यों न रहे? कार्य क्यों न करे?

माया, मंदिर, इस्तरी, धरती औ ब्यौहार।
ये सन्तनको तब मिलें, कोपै जब करतार॥

जब भगवान्का कोप होता है तभी साधुको ये वस्तुएँ मिलती हैं। भगवान्की कृपा हो तो ये वस्तुएँ कभी नहीं मिलेंगी, अगर मिलें तो कोई अपराध हो गया। भिक्षा माँगकर खानेकी जरूरत ही इसलिये है कि जिसमें पैसेकी जरूरत न पड़े।

एक बार महात्मा श्रीधराश्रमजी तथा और दस-बारह साधु घूम रहे थे। एक गाँवके पास जाकर ठहर गये। सब भिक्षा माँगने गये। लेकिन किसीको भी उस दिन भिक्षा नहीं मिली। सबने कहा कि आज जो भिक्षा नहीं मिली इसमें कुछ-न-कुछ रहस्य जरूर है। तब सबने देखा तो एक साधुके पास ग्यारह-बारह रुपये निकले। सबने कहा कि भैया! तुम यहाँसे जाओ।

× × × ×

प्राचीन कालमें महात्मा लोग सदैव गंगाके किनारे-किनारे विचरण किया करते थे। स्थायीरूपसे कहीं भी नहीं रहते थे। दत्तात्रेयजी जहाँ कहीं भी जाते थे वहीं बड़ी भीड़ हो जाती थी;

वे वहीं हजारों आदमियोंसे घिर जाते थे। कभी-कभी वे अज्ञात स्थानमें भी चले जाते थे, किसीको छः-छः मासतक पता नहीं लगता था।

निरन्तर भ्रमण करते रहनेसे किसी देशका प्रभाव नहीं पड़ता। बड़े-बड़े अनुभव होते हैं। विरक्तकी चेष्टा उसकी असलियतको बता देती है। विरक्ति छिपी नहीं रहती।

एक वैभवसम्पन्न जमींदार मुसलमान था, कालकी प्रेरणासे गरीब हो गया। गरीबीमें वह फकीर हो गया। वह रातको नियमपूर्वक बस्तीमें रोटीकी भीख माँगने जाता था। एक दिन अँधेरेमें गिर पड़ा। दूसरे दिनसे उसने एक नौकर रख लिया। नौकरकी ड्यूटी थी—फ़कीरके सामने प्रकाश दिखाना। फकीर होनेपर भी अमीरोंके संस्कार नहीं गये थे। इसी प्रकार यह आत्मा अनादि कालसे महान् ऐश्वर्यका भोक्ता रहा है। यही कारण है, जबतक यह इस महान् ऐश्वर्य (भगवत्तत्त्व) की प्राप्ति नहीं कर लेता तबतक असन्तोषी बना रहेगा। असन्तोषकी निवृत्ति जगत्की किसी भी वस्तुसे होनी सम्भव नहीं।

जिसके मनमें किसी प्रकारकी वासना या कामना नहीं है, वही अनिकेती है। घर बनाकर रहनेके मानी हैं भोगकी सामग्रियोंका सञ्चय करके उन्हें भोगना। गीतामें जो 'अनिकेत' शब्द आया है, वह ममता और कामनारहित होनेके ही सम्बन्धमें है। भगवान्के कहनेका मतलब यह है कि 'किसी प्रकार ममता और कामनाको मनमें स्थान मत दो।' अनिकेती होनेमें जो आनन्द है,

उद्दण्डको सद्गुरु स्वीकार नहीं करते। साधुके तीन लक्षण मुझे बहुत अच्छे लगते हैं—१—जीवनभर कामिनीका कभी स्वीकार न करे, २—कञ्चनका स्वीकार न करे और ३—रेलके लिये, खानेके लिये, वस्त्रके लिये भी कुछ न ले।

भजनानन्दी गृहस्थको एकस्त्रीव्रती और शुद्ध आजीविका करनेवाला अवश्य होना चाहिये। उसको यह समझना चाहिये कि मुझे परमार्थके मार्गपर चलना है। अशुद्ध जीविकावाला परमार्थ-पथपर नहीं चल सकता।

साधु यदि पैसा अपने पास रक्खेगा तो वह पतितसे भी अधिक पतित होगा। अब तो मैं सब साधुओंसे मिलता हूँ, परन्तु पहले मुझे एक सन्तने कहा था कि पैसेवाले साधुओंका संग न करना।

प्र०—गृहस्थ शिष्यको क्या करना चाहिये ?

उ०—गृहस्थमें रहते हुए पहले तो क्रोधका त्याग करना चाहिये। गृहस्थ हो या विरक्त, जहाँ क्रोध आया कि किया हुआ साधन नष्ट हुआ। सहनशक्ति होनी चाहिये। सहनशक्ति कम होनेसे ही भजनमें आनन्द नहीं आता। जबतक पापसे भय नहीं हुआ तबतक भजन भी प्रायः लोगदिखाऊ ही होता है। असली भजन उससे नहीं हो सकता। एक व्यक्ति वेदान्तका उपदेश तो बहुत देता था परन्तु जिस किसीसे रुपये लेता, उसे कभी वापस नहीं देता। ऐसे केवल कथन करनेवालोंसे कुछ लाभ नहीं।

अभ्यासकी आवश्यकता

कुछ भी हो, बिना संयमके कुछ भी नहीं हो सकता। संयमके द्वारा ही दिव्य दृष्टिकी प्राप्ति होती है। संयमरहित जीवन व्यर्थ है। दृढ़ अभ्यासकी निरन्तर आवश्यकता है। शिथिल अभ्याससे कुछ नहीं होनेका। सावधान चित्तसे निरन्तर अभ्यासमें लगे रहो। यह पुस्तकी विद्या नहीं है अनुभवका पथ है।

अभ्यासके द्वारा चित्तको शान्त करो, विषयोंका चिन्तन करना मनको आहार प्रदान करना है। संकल्प-पुरके पदार्थोंका स्मरण करनेसे ही पतन हो जाता है।

मनोराज्यकी कामिनीके स्मरणमात्रसे भी मनमें विकार उत्पन्न हो जाता है। इसीलिये गीतामें कहा है—

ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते।
सङ्गात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते॥
क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति॥*

किसीके सम्बन्धमें स्मरण करना, विचार करना उसका संग करना है। संगसे वस्तु समीपताका रूप धारण कर लेती है। संगका त्याग करनेसे त्रुटियाँ दूर हो जाती हैं।

चित्तमें शुभ विचारोंको भरो, शुभ विचारोंके साथ खेल करो। उसके साथ जीवन विताओ।

सारा अभ्यास मनसे सम्बन्ध रखता है। भगवत्तत्त्व समझनेके लिये मनका अभ्यास अपेक्षित है। केवल शारीरिक तपसे कुछ नहीं होगा। शारीरिक तपसे देह-बुद्धि कम होती है। देहकी आसक्ति कम होती है, यह स्थूल चित्तवालोंके लिये है।

वाणीका तप भी आवश्यक है। प्रायः लोग अभ्यासमें वाणीकी साधना भूल जाते हैं। मैं तो कहता हूँ केवल सत्य-भाषणसे ही आत्मसाक्षात्कार हो सकता है। किन्तु सत्यमें सरलता भी निहित है। सरलता सत्यसे पृथक् नहीं।

---

* विषयोंका चिन्तन करते-करते पुरुषकी उनमें आसक्ति हो जाती है, आसक्तिसे उनकी कामना होती है, कामनाके विघातसे क्रोध होता है, क्रोधसे मोह होता है, मोहसे विवेकका नाश होता है, विवेकके नाशसे बुद्धि नष्ट हो जाती है और बुद्धिका नाश होनेपर मनुष्यका पतन हो जाता है।

ऐसे अभ्यासकी आवश्यकता है, जिसमें वाणीका उद्वेग न हो। जिस वाणीमें कटुता है, उद्विग्नता है, चञ्चलता है, वह वाणी अभ्याससे रहित है। जो व्यक्ति वाणीद्वारा चित्तमें विक्षोभ पैदा कर देता है वह सत्यके यथार्थ स्वरूपसे बहुत दूर चला जाता है।

इसलिये आवश्यकता है कि यदि किसीको समझाया भी जाय तो मधुर वाक्योंसे ही समझाया जाय। यदि शत्रुको किसी प्रकार-की सूचना देनी हो तो मीठे शब्दोंसे ही सूचना देनी चाहिये।

शारीरिक तपद्वारा देह-बुद्धिका नाश कर दो।

वाणीके तपद्वारा सरलता, सुशीलता, पवित्रता एवं मधुरता आदि कोमल एवं शान्त सद्गुणोंकी प्राप्ति करो।

मानस तपद्वारा मनमें भरे हुए सारे संकल्पोंका नाश कर दो। सारी वासनाओंका क्षय कर दो। कोई भी वासना क्यों न हो, उसका तिरस्कार कर दो। वासनारत मनुष्योंके संसर्गमें भी मत जाओ।

आत्मनिष्ठाके विना मुक्ति नहीं हो सकती। आवश्यकता है—आत्मनिष्ठ होनेकी। जबतक वासनाओंका चित्तमें निवास है, तबतक ज्ञान नहीं उदय हो सकता। वासना ही जन्मका कारण है। ज्यों ही वासना नष्ट होगी त्यों ही वह जन्म, मृत्यु, जरा, व्याधि, दुःख और दोषसे पृथक् हो जायगा।

आजकल बहुत लोग ऐसे हैं जो ज्ञानके साथ भोग भी चाहते हैं। इन्द्रियोंके साथ खेल भी करना चाहते हैं, खेल तो

एकहीके साथ होगा। आत्माके साथ खेल करनेवाला इन्द्रियोंके साथ कैसे खेल सकता है? इन्द्रियोंके साथ खेल करनेमें महादुःख है और इससे बड़ी हानि उठानी पड़ती है, जिसकी कभी पूर्ति नहीं हो सकती। इस हानिसे बचनेके लिये निग्रह करना चाहिये।

निवृत्तिपरायण होना यही ज्ञानका फल है।

सच्चिदानन्दकी प्राप्ति ही मुक्ति है और उसकी प्राप्ति होगी तब जब मनमें कोई वासना न होगी।

आवश्यकता है निरन्तर अभ्यास करते रहनेकी। बिना अभ्यासके कुछ भी नहीं हो सकता। अभ्यास और वैराग्यरहित जीवन व्यर्थ है। विचार करो—समस्त दृश्य-जगत् संकल्पसे पूर्ण है। जैसा संकल्प करोगे, ठीक उसी भाँति दृष्टिगोचर होने लगेगा। संकल्प समुद्रके जलकी बूँदके समान है। अनन्त संकल्पसमूह ही संसार है। वास्तवमें संकल्पसे इतर कुछ भी नहीं है। ऐसा विचार करके विश्वप्रपञ्चकी आसक्तिका नाश कर दो।

सबसे प्रबल विघ्न तो तुम्हारी वासनाओंका स्फुरण ही है। वासनाक्षयसे अभ्यासकी कमी होती जायगी। ज्यों-ज्यों वासनाका क्षय होता जायगा, त्यों-ही-त्यों देहाध्यासकी कमी होती जायगी। देहाध्यास घोर जडता है। इस घोर जडताको दूर किये बिना आध्यात्मिक क्षेत्रमें उतरना कठिन होगा। न तो मनके साथ लड़ाई करनी होगी और न उसे किसी वस्तुका प्रलोभन देकर

फुसलाना ही होगा; किन्तु एक आवश्यक काम पूरा करना होगा, वह है—'मनमें भरे हुए नाना तरहके संकल्पोंका नाश ।'

ज्यों ही तुम्हें इस कार्यमें सफलता होगी, त्यों ही संसारी प्रलोभन नितान्त सुलभ हो जायँगे ।

जीवनके प्राथमिक अभ्यासकी क्षीण सफलतामें ही संसारके सारे पदार्थ तुम्हारी ओर आकर्षित होने लगेंगे । निरन्तर छः मासकी निर्बल साधनामें भी संसारके प्रलोभन आने लगते हैं । इस अवस्थामें खूब सावधान रहना चाहिये ।

अभ्यासीसे प्रथम तो पाप होते ही नहीं, कहीं आसक्तिवश कोई हो जाता है तो वह तीव्र अभ्यासरूपी अग्निमें तुरन्त भस्म हो जाता है ।

सत्संग करे और अभ्यास न करे तो क्या लाभ है । जैसे रामायण पढ़े और श्रीरामका भक्त न हो, अथवा श्रीमद्भागवतका पारायण करते हुए भी श्रीकृष्णचन्द्रका अनुरागी न हो ।

श्रद्धा, तत्परता तथा जितेन्द्रियता—इनमेंसे एकके भी अभावमें इष्टकी प्राप्ति नहीं हो सकती, अतएव लक्ष्यकी सिद्धिके लिये तीनोंकी ही आवश्यकता है ।

हजारों-लाखोंमें कोई ही एक साधु बनता है ।

सीखनेकी वस्तु भजन ही है, ब्रह्मविचार नहीं । विचार तो भजनके फलसे स्वयं ही प्राप्त हो जाता है । जो भजन करता है

उसे कालान्तरमें या जन्मान्तरमें विचार हो ही जायगा। अतः विचारके लिये भजन नहीं छोड़ना चाहिये।

मैंने इस प्रान्तके एक बहुत विद्वान् पण्डितसे पूछा—'पण्डितजी! आपने शास्त्रोंका पूर्ण अध्ययन किया है, कुछ अपना अनुभव भी बताइये।'

पण्डितजीने कहा—'निरन्तर अभ्यास करते रहने तथा पूर्णरूपेण वासनारहित होनेपर ही अनुभव होता है, शास्त्रके केवल पढ़ लेनेसे नहीं। जबतक वासना है, चित्तमें शान्ति आ नहीं सकती। वासनाका नाश करते ही चित्तमें शान्तिका उदय होता है। वासनारहित चित्त ही परमतत्त्वके चिन्तनका अधिकारी है।'

पढ़ने-पढ़ानेसे कुछ नहीं होता। पढ़ना-पढ़ाना एक कला है, ईश्वरसे सम्बन्ध नहीं रखता। यह ज़रूर है कि जड़वादियोंकी अपेक्षा पढ़ने-पढ़ानेवालोंका जीवन अच्छा है। कम-से-कम शुभ संस्कार ही होते हैं।

इसीलिये शास्त्रकारोंने अभ्यासके ऊपर बहुत ज़ोर दिया है। अभ्यास करो सफलता होगी। निरन्तर अभ्यास करते रहनेसे ही परमतत्त्वकी उपलब्धि होती है। वासनायुक्त जीवनमें अभ्यास नहीं हो सकता। अतः आवश्यकता है, प्रथम वासना त्याग करनेकी।

मरनेके पश्चात् तो कुत्ते भी शान्त हो जाते हैं। इस ज़ीवनमें

ही अन्तिम तत्त्व, अन्तिम पदकी प्राप्ति करनी है। जीवन्मुक्त होनेका निरन्तर अभ्यास करते रहना चाहिये।

यह जरूर है कि तुम्हें नित्यप्रतिके अभ्यासमें, इस संवर्षणमय नियन्त्रणमें कठिनाई होगी। बड़ी-बड़ी असुविधाओंका सामना होगा, और उस समय तुम्हें सावधान रहना पड़ेगा।

ज्ञानीमें चार बातें नहीं रहतीं—जगत्में सत्यत्व, सुख, रमणीयता और राग।

ज्ञाननिष्ठ पुरुष चार प्रकारका त्याग करे (१) रूपका सर्वथा त्याग, (२) धनका सर्वथा त्याग, (३) रसास्वादका सर्वथा त्याग, (४) तिरस्कारका सर्वथा त्याग।

जिज्ञासु दो प्रकारके हैं—कृतोपास्ति और अकृतोपास्ति। कृतोपास्तिको ज्ञान होते ही दृढ़ हो जाता है, पर अकृतोपास्तिको दृढ़ नहीं होता, अतएव उसे ज्ञानकी दृढ़ताके लिये उपासना अवश्य करनी चाहिये।

ध्यान स्थूलके छोड़नेको कहते हैं। ईश्वर सूक्ष्म है और सूक्ष्म ही सूक्ष्मको प्राप्त होता है। चित्त समाधिमें जानेसे सूक्ष्म हो जाता है अतः ईश्वरप्राप्तिके लिये समाधि अवश्य करनी चाहिये।
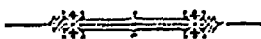
ज्ञानाभ्यास

प्र०—'असङ्गशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा। ततः पदं तत्परिमार्गितव्यम्' इस गीताके वचनमें जो असंग शस्त्र माना गया है वह क्या है और उसके पीछे जिस मार्गकी खोज करनेको कहा है वह क्या है?

उ०—सदसद्विवेकवती बुद्धिसे आत्मा और अनात्माका विचार करना असंग शस्त्र है। जब अनात्मासे आत्माकी पूर्ण असंगताका अनुभव होने लगे तो उसे ही असंग शस्त्रद्वारा छेदन करना कहा जाता है। उसके पीछे साधकको यह प्रश्न होता है कि ईश्वर कहाँ है और कैसा है? इसपर विचार करना ही 'उस मार्गकी' खोज

करना है । उस समय गुरु महावाक्यका उपदेश करते हैं जिससे साधकको उस पदकी प्राप्ति होती है जहाँसे वह फिर इस संसार-चक्रमें नहीं लौटता ।

प्र०—पूर्ण ज्ञाननिष्ठा कब समझनी चाहिये ?

उ०—जब सम्पूर्ण प्रपञ्च गन्धर्वनगरवत् अथवा आकाशकुसुमवत् मालूम होने लगे और कोई भी चमकीला विषय अपनी ओर आकर्षित न कर सके ।

प्र०—निस्सन्देह ज्ञान (श्रवण-मननजन्य ज्ञान) हो जानेपर असंगताके अभ्यासकी आवश्यकता क्यों है ?

उ०—परमार्थतत्त्वका ज्ञान हो जानेपर भी दीर्घकालीन अभ्यासके कारण चित्तमें बैठी हुई विषयोंकी प्रीति दूर नहीं होती—विषयोंका आकर्षण बना ही रहता है । उसे दूर करनेके लिये असंगताके अभ्यासकी आवश्यकता है, क्योंकि बिना अभ्यासके आत्मानन्दकी दृढ़ता नहीं होती और बिना आत्मानन्दकी दृढ़ताके विषयोंमें सुख-बुद्धि बनी रहती है । अतः विषयोंसे उपराम होनेके लिये और आत्मानन्दकी प्राप्तिके लिये अभ्यास अवश्य करना चाहिये । अभ्याससे यह बात दृढ़ हो जायगी कि मैं चराचरका द्रष्टा हूँ और सम्पूर्ण दृश्य मरुभूमिका जल है ।

दृढ़ ज्ञान हो जानेपर जो भाव जागृतिमें रहता है वही स्वप्नमें भी रहता है । जो मनुष्य मांस नहीं खाता, वह स्वप्नमें भी मांस-भक्षण नहीं करता । सच्चा ब्रह्मचारी स्वप्नमें भी स्त्री-सेवन नहीं

करता। परन्तु ऊपरसे ही ज्ञानकी बातें बनानेवालोंपर जब थोड़ी-सी भी आपत्ति आती है तो वे सब ज्ञान भूल जाते हैं। सच्चा ज्ञानी तभी समझना चाहिये जब सिरपर दुःखोंका पहाड़ टूट पड़नेपर भी निष्ठासे विचलित न हो।

प्र०—जगत्से असंगताका अनुभव हो जानेपर यदि जगत्की सत्ता बनी भी रहे तो क्या हानि है?

उ०—असंगताका निश्चय हो जानेपर भी यदि जगत्की सत्यता बनी रही तो उसमें आसक्ति हो जाना सम्भव है, क्योंकि बिना असत्यताके निश्चयके जगत्में रमणीय-बुद्धि दूर नहीं होती। इसलिये उसकी असत्यताका बोध भी परम आवश्यक है।

आत्मक्रीड और आत्मरतिके लिये किसी साधनकी आवश्यकता नहीं होती; स्त्री-क्रीडा, धन-क्रीडा या पुत्र-क्रीडा आदि सांसारिक भोगोंके लिये तो बड़े-बड़े साधनोंकी आवश्यकता होती है।

चार बातें सर्वदा याद रक्खो; ये चार श्रेणियाँ हैं—प्रथम, संसारको दुःखरूप समझना, दूसरे, उसे स्वप्नवत् समझना, तीसरे, उसे भगवान्की माया समझना और चौथे उसे आत्माकी तरंग जानना।

पहले ज्ञाता और ज्ञेयकी पृथक्ताका ज्ञान होता है, फिर इस भावके दृढ़ हो जानेपर ज्ञेय ज्ञाताकी दमक ही मालूम पड़ने लगता है, और कुछ नहीं।

ज्ञेयका ध्यान न करना ही ज्ञाताका ध्यान है।

ज्ञाता और ज्ञेयका सम्बन्ध कभी नहीं होता—ऐसा चिन्तन हर समय रखना चाहिये ।

तुमसे जो अलग वस्तु दीखती है, सो सब संसार है । देखनेवाला क्या है, इसको बुद्धि नहीं जान सकती, इसलिये वह 'अणोरणीयान् महतो महीयान्' है और समस्त संसारका द्रष्टा है ।

शरीर अलग है और मैं अलग हूँ, पहले ऐसी भावना करनी चाहिये । हरा, पीला, काला, लाल जो रूप दीखता है, उससे मैं अलग हूँ ! राग-द्वेष, सुख-दुःख, मान-अपमान, निन्दा-स्तुति सबसे मैं अलग हूँ ।

ज्ञेय अलग है और ज्ञाता अलग है, यह भाव परिपक्व हो जानेपर ज्ञेय ज्ञाताकी चमकमात्र है और कुछ भी नहीं है, इस प्रकार ज्ञेयका ध्यान न करना ही ज्ञाताका ध्यान है । ज्ञेयसे ज्ञाता अलग है ऐसा हर समय चिन्तन करना चाहिये ।

सब ज्ञेय है; इसलिये भय, क्रोध, राग, द्वेष किसीसे भी नहीं करना चाहिये । शम, दम, ध्यान, सर्वथा त्याग, वैराग्य इन पाँचोंपर विशेष जोर देना चाहिये । राग और भय भगवान्‌से हों तो ये मुक्तिके और संसारसे हों तो बन्धनके कारण हैं ।

भगवान् परिपूर्ण हैं, उनसे प्रेम करनेकी आवश्यकता है । ज्ञानमें आनन्द नहीं, प्रेममें आनन्द है । किसी पुरुषको जान लेना ज्ञान है और उससे पुनः-पुनः मिलना प्रेम, भक्ति या अभ्यास है ।

याद रक्खो, संसार दुःखरूप है, स्वप्नवत् है, माया है, आत्माकी तरङ्ग है। आकाशमें कोई वस्तु है और मैं आकाशसे अलग हूँ, तब वह आकाशमें वस्तु नष्ट हो या उत्पन्न हो, उसमें मुझे सुख-दुःख क्यों होगा?

सब संसार भावनासे ही बना है, देह भी भावनासे बना है। विपरीत भावनासे इस भावका अभाव करो।

प्रकृति जड नहीं है, उसका कार्य जड है। क्योंकि प्रकृति जड-चेतनका विभाग करती है। पुरुष तो कुछ करता नहीं; इसलिये प्रकृतिको जड नहीं कह सकते। 'कार्यकरणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते।' प्रकृति कुछ भी हो, हमको तो उससे प्रयोजन नहीं है। हमें तो पुरुषको ही जानना है, उसीसे हमारा प्रयोजन सिद्ध होता है।

मत्तः परतरं नान्यत् किञ्चिदस्ति धनंजय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव॥*

(गीता ७।७)

पुरुषान्न परं किञ्चित् सा काष्ठा सा परा गतिः†

ये सब गहन विषय हैं, भगवत्-कृपा होती है तभी समझमें आते हैं। (१) ईश्वर-कृपा, (२) गुरु-कृपा, (३) शास्त्र-

---

* हे अर्जुन! मुझसे परे कुछ भी नहीं है। यह सब कुछ धागेमें धागेके दानोंके समान मेरेमें ही ओतप्रोत है।

† पुरुषसे परे और कुछ नहीं है, वही सबकी सीमा है, वही परम गति है।

कृपा और (४) आत्म-कृपा—इन चार कृपाओंके होनेसे ही पूरा लाभ होता है।

ममत्वसे ही दुःख होता है, ईश्वर-सृष्टिके पदार्थोंसे दुःख नहीं हो सकता। ईश्वर-सृष्टिके पदार्थोंमें ममत्व करनेको ही जीव-सृष्टि कहते हैं। जैसे अनेक मकान हैं, उनके नष्ट हो जानेसे दुःख नहीं होता, किन्तु मकानको खरीद लेनेके बाद उसमें ममत्व हो जानेपर यदि उसकी एक ईंट भी कोई निकालता है तो बड़ा कष्ट होता है। इसलिये किसी पदार्थमें ममत्व न करके सब पदार्थोंको ईश्वरका समझकर सेवककी भाँति उनकी रक्षा तथा सम्हाल करते रहनेसे उनके संयोग-वियोगमें दुःख नहीं होता, क्योंकि सब पदार्थोंका बनानेवाला ईश्वर ही है। यदि कोई कहे यह मकान तो मैंने बनाया है तो मिट्टी, पत्थर आदि कहाँसे आये; ये तो मनुष्यकृत हैं नहीं, और यदि इन भौतिक पदार्थोंके बनानेवाले-को ईश्वर मानें तो गवर्नमेण्टको सबसे बड़ा ईश्वर मानना चाहिये, क्योंकि उसने तो रेल, मोटर, तार, जहाज आदि अनेक पदार्थ बनाये हैं, पर लोहा न होता तो वह कहाँसे बनाती? इसलिये यह मानना पड़ेगा कि सृष्टिका रचयिता और मालिक ईश्वर ही है।

ज्ञानी और ज्ञाननिष्ठा

प्र०—आपने कहा था कि एक ज्ञान तो वह है जो सुन-सुनाकर होता है, और दूसरा अनुभवगम्य है। इनमें पहला ज्ञान बोध नहीं कहा जा सकता; अतः कृपया यह बतलाइये कि अनुभवगम्य ज्ञानकी प्राप्तिके लिये क्या करना चाहिये ?

उ०—इसके लिये शास्त्रोंमें अनेक साधन बताये हैं। उसमें जैसा मेरा विचार है वह कहे देता हूँ। प्रतिबिम्ब स्पष्ट दिखायी देनेके लिये यह आवश्यक है कि अपनी आँखें साफ हों और दर्पण भी स्वच्छ हो। आत्मानुभवमें विवेककी स्फुटता ही आँखोंका साफ होना है और चित्तका राग-द्वेष-रहित होना दर्पणकी सफाई है।

प्र०—विवेककी स्फुटता और चित्तकी शुद्धि—ये दोनों तो चित्तके ही धर्म हैं। इनमें आँख और दर्पणके समान भेद किस प्रकार किया जा सकता है ?

उ०—विवेक दो प्रकारका होता है । (१) नित्यानित्यवस्तु-विवेक और (२) तत्त्वविवेक । नित्यानित्यवस्तुविवेक अज्ञानीको होता है । उसमें वस्तुतः अनित्य वस्तुमें ही नित्य और अनित्य दो विभाग कर लिये जाते हैं । चित्तकी दो अवस्थाएँ हैं (१) कार्यावस्था और (२) कारणावस्था । उनमेंसे कार्यावस्थाको अनित्य और कारणावस्थाको नित्य मान लिया जाता है परन्तु वस्तुतः वे दोनों ही अनित्य हैं, किन्तु तत्त्वविवेकमें साक्षी सम्पूर्ण प्रपञ्चसे अलग रहता है और सारा प्रपञ्च एक ओर होता है । इसलिये इसमें चित्त अलग रहता है और अपना शुद्ध स्वरूप अलग । अतः यह अपनी आँखोंकी सफाईके समान है और इसमें चित्त दर्पण-तुल्य है ।

परन्तु यह तत्त्वविवेक भी पूर्ण बोध नहीं कहा जा सकता, इसमें भी अपनेसे भिन्न दृश्य वस्तुकी सत्ता बनी रहती है । यह अद्वैतबोधके बिना निवृत्त नहीं हो सकती ।

प्र०—इसके लिये साधकको क्या करना चाहिये ?

उ०—जब साक्षी और साक्ष्यका विवेक हो जाय तो यह विचारना चाहिये कि यह जितना प्रतीयमान दृश्य है वह अलग-अलग है या एक । जिस समय यह एक निश्चय हो जायगा उसी समय उसके अत्यन्ताभावका बोध हो जायगा और अद्वैततत्त्व-में स्थिति हो जायगी ।

प्र०—समस्त दृश्यकी एकताका अनुभव हो जानेसे ही उसके अभावका बोध कैसे माना जा सकता है ? जिस प्रकार भेद-दृष्टि

रहनेपर वह अपनेको परिच्छिन्न उपाधिका साक्षी और उससे असंग समझता था उसी प्रकार इस समय वह अपनेको सम्पूर्ण प्रपञ्चका साक्षी और उससे असंग अनुभव करते हुए भी दृश्यको सत्य ही क्यों न समझेगा ?

उ०—जब सारा प्रपञ्च एक सत्तामें आ जायगा तब उसका कोई कारण न मिलनेसे वह सत्य सिद्ध नहीं हो सकेगा। सांख्यने जो प्रकृति और पुरुष दो स्वतन्त्र तत्त्वोंको सत्य माना है वह युक्ति और अनुभवके सर्वथा विरुद्ध है। जब दो स्वतन्त्र तत्त्व सत्य हैं तो कोई उनका आधार भी अवश्य होना चाहिये, क्योंकि बिना आधारके कोई भी आधेय पदार्थ रह नहीं सकता और जब वे दो हैं तो आधेय ही हैं। इसलिये ऐसी अवस्थामें दृश्यकी सत्यता कभी सम्भव नहीं है।

इस प्रकार जब दृश्यका अत्यन्ताभाव बोध हो जाता है तो उसे समस्त दृश्य अपनेमें ही अनुभव होने लगता है। इस अवस्थामें उसका किसी भी वस्तु अथवा क्रियासे राग या द्वेष नहीं रहता। विवेकीको तो सत्‌में राग और असत्‌में द्वेष रहता है परन्तु उसकी सभीमें समदृष्टि रहती है; जैसा गोसाईंजीने कहा है—

सबके प्रिय सबके हितकारी। सुख दुख सरिस प्रसंसा गारी॥

शास्त्रोंमें ऐसे बोधवान् व्यक्ति तीन प्रकारकी क्रिया करते देखे जाते हैं। एक कर्मकाण्डी—जैसे वसिष्ठ आदि, दूसरे उपासक—जैसे नारदादि और तीसरे विरक्त—जैसे शुकदेव, वामदेव आदि।

इस प्रकार यद्यपि उनके व्यापार अलग-अलग हैं तो भी बोधमें कोई अन्तर नहीं है। उनकी वे क्रियाएँ बालवत् लीलामात्र होती थीं।

प्र०—आपने जिस प्रकार ये अलग-अलग व्यापार बतलाये, उसी प्रकार एक ही बोधवान् समय-समयपर सभी व्यापारोंको भी तो कर सकता है न ?

उ०—हाँ, क्यों नहीं कर सकता। नाटकमें देखते नहीं हो ? एक ही व्यक्ति कितने पार्ट करता है। इसी प्रकार वह भी समय-समयपर विभिन्न व्यापार करके भी उनसे अलिप्त रहता है। परन्तु इस प्रकार सब कुछ करते हुए भी वस्तुतः वह कुछ नहीं करता, क्योंकि उसकी दृष्टि प्रपञ्चके अत्यन्ताभावमें स्थित रहती है।

प्र०—जिस प्रकार आपने ज्ञानीके व्यापारके तीन भेद बतलाये हैं उसी प्रकार वह नीतिनिष्ठ भी तो हो सकता है; और यदि नीतिनिष्ठ होगा तो नीतिके प्रति राग और अनीतिके प्रति द्वेषका प्रदर्शन भी आवश्यक होगा।

उ०—हाँ, नीतिनिष्ठ भी अवश्य हो सकता है। परन्तु उस अवस्थामें अथवा पहली तीन अवस्थाओंमें भी उसका जो राग-द्वेष-का प्रदर्शन होगा वह केवल लीलामात्र होगा, वास्तविक नहीं होगा। यदि राग-द्वेषमें वास्तविकता आ जाती है तब तो बोधवान् क्या, उसे विवेकी भी नहीं कह सकते। क्योंकि राग-द्वेषकी दृढ़ता दृश्यकी सत्यता माने बिना नहीं हो सकती और दृश्यकी सत्यता तो तत्त्वविवेक होनेपर ही निवृत्त हो जाती है।

प्र०—ऐसी स्थिति प्राप्त करनेके लिये तो विचार ही मुख्य जान पड़ता है, उसके लिये ध्यानादिकी क्या आवश्यकता है ?

उ०—जबतक प्रपञ्चका अत्यन्ताभाव बोध नहीं होता तबतक तो विचार मुख्य है; परन्तु जब यह निश्चय हो गया तो उसपर अधिक जोर देनेकी आवश्यकता नहीं है। वह गौण हो जाना चाहिये। फिर तो ध्यान ही मुख्य होना चाहिये। विचारसे भी वृत्ति प्रपञ्चके अत्यन्ताभावको ग्रहण तो करती है परन्तु उसपर स्थिर नहीं रहती; किन्तु ध्यानसे उसमें स्थिरता आती है। यदि ध्यानादिमें न लगकर विवेकमें ही लगा रहेगा तो उसे उसीका व्यसन हो जायगा और वह जीवन्मुक्त-अवस्थासे वञ्चित रह जायगा, इसीको शास्त्रवासना भी कहते हैं।

प्र०—यह तो सिद्ध पुरुषोंकी स्थितिका वर्णन हुआ। अब यह बतलाइये कि साधकको यदि व्यापारमें विक्षेप होता हो तो उसे व्यापारका त्याग करना चाहिये या विक्षेपकी निवृत्तिका प्रयत्न करना चाहिये ?

उ०—साधकको व्यापारका संकोच करना ही आवश्यक है। उसे विक्षेपके कारणको रखते हुए केवल विक्षेपकी निवृत्ति करनेका प्रयत्न करना ठीक नहीं। व्यापारका संकोच होनेसे और विचारपर जोर रहनेसे स्वतः ही विक्षेप भी निवृत्त हो जायगा।

प्र०—यदि रोग आदि हो जाय तो उसकी चिकित्सा करनी चाहिये या उसे सहन करते रहना चाहिये।

उ०—रोग हमें दवाना चाहता है। उससे हमारा विचार मन्द भी पड़ जाता है, इसलिये उसकी निवृत्ति अवश्य करनी चाहिये। परन्तु विचारवान् पुरुष उसीके पीछे नहीं पड़ जाता। वह तो यही देखता है कि भयंकर दुःखके समय भी उसका विचार तो नहीं छूटता। वह कभी हाय-हाय करके प्राण नहीं देता, क्योंकि वह जानता है कि रोग उसका दास है; वह कैसा ही भय दिखलावे मेरे ऊपर प्रभाव नहीं डाल सकता। भला, जो व्यक्ति यह वात अच्छी तरह जानता है कि मैं एक ऐसी ठोस वस्तु हूँ कि कोई भी शस्त्र मेरा भेदन नहीं कर सकता, वह किसीको हाथमें तलवार लेकर अपने ऊपर आता देखकर भी कैसे कम्पायमान हो सकता है?

प्र०—जिसे वोध हो गया है क्या उसे भी सत्संग आदि करनेकी इच्छा होती है?

उ०—लोकमें यह वात देखनेमें आती है कि पहलवान भले ही मरणासन्न हो जाय वह जिस समय कहीं दंगलका समाचार पाता है फौरन पहुँच जाता है। उसे वहाँ जाकर कुछ सीखना भी नहीं होता, तो भी उससे वहाँ जाये विना नहीं रहा जाता, वह उसका स्वभाव है। इसी प्रकार जहाँ कहीं विचारकी वात होती होगी वहाँ जानेके लिये उसकी प्रवृत्ति होना स्वाभाविक ही है। उसे उसकी आवश्यकता नहीं होती; तो भी वह वहाँ जाये विना नहीं रह सकता।

प्र०—यह कव समझना चाहिये कि वोधकी प्राप्ति हो गयी?

उ०—जिसमें जीव, ब्रह्म आदि किसी प्रकारका अहंभाव नहीं है; जो व्यवहारमें सब कार्य ठीक-ठीक करता है, किन्तु परमार्थतः सबका अत्यन्ताभाव देखता है तथा जिसकी दृश्यमें मिथ्यात्वबुद्धि भी निवृत्त हो गयी है उसे बोधवान् समझना चाहिये। जिसके 'कुछ हुआ है' अथवा 'कुछ नहीं है' ये दोनों ही भाव निवृत्त हो गये हैं वह बोधवान् है। 'कुछ हुआ है' इससे व्यवहारसत्तामें राग रहता है और 'कुछ नहीं हुआ है' इससे उसमें द्वेष रहता है। बोधवान्में ये दोनों ही नहीं होते। 'कुछ नहीं हुआ' यह बात वह केवल जिज्ञासुके लिये कहता है। क्योंकि 'हुआ है' अथवा 'नहीं हुआ' ये दोनों ही भाव अहंबुद्धिको लेकर रहते हैं। 'प्रपञ्च हुआ है' यह भाव अनात्मबुद्धिसे होता है और 'नहीं हुआ' यह आत्मबुद्धिसे होता है। ये दोनों ही वृत्तिके कार्य हैं। परन्तु आत्मस्वरूप इन वृत्तियोंसे परे है। इसलिये बोधवान्में ये दोनों ही भाव नहीं रहते।

प्र०—इस प्रकारकी पूर्ण स्थिति हो जानेपर भी व्यवहारमें वृत्ति आदिसे तादात्म्य क्यों हो जाता है?

उ०—बोधवान्का वृत्ति आदिसे कभी तादात्म्य नहीं होता। उसकी जो कुछ चेष्टा होती है वह नाटकवत् होती है। जिस प्रकार नाटकका निपुण पात्र सब प्रकारका अभिनय करते हुए भी अपनेको राजा, मन्त्री अथवा और कुछ कभी नहीं समझता उसी प्रकार बोधवान् भी बुद्धि आदिका अत्यन्ताभाव देखता हुआ सर्वदा अपनेको उनसे असङ्ग अनुभव करता है। परन्तु ऐसी स्थिति प्राप्त करनेके लिये अत्यन्त तीव्र अभ्यासकी आवश्यकता है।

प्र०—वह अभ्यास किस प्रकारका होना चाहिये—यह बतलाइये ?

उ०—अभ्यास दो प्रकारका है—(१) विवेककालीन और (२) बोधके पश्चात् किया जानेवाला। विवेककालीन अभ्यासका नाम ही निदिध्यासन है। निदिध्यासनका तात्पर्य यह है कि सजातीय प्रत्ययका प्रवाह और अनात्माकार वृत्तिका तिरस्कार किया जाय। इससे त्वं पदका शोधन होता है। फिर जब दृश्यका अत्यन्ताभाव अनुभव हो जाता है तब तत् और त्वं पदकी एकता होनेपर बोध होता है। निदिध्यासनमें अपनेको पञ्चकोशका साक्षी निश्चय किया जाता है; फिर जब अपनेको पञ्चभूतके साक्षीसे अभिन्न अनुभव करनेपर अखण्डाकारवृत्ति होती है तब बोधकी प्राप्ति कही जाती है। निदिध्यासनमें पञ्चभूत और पञ्चकोशके द्रष्टाओंमें भेद रहता है। इनका अभेद अनुभव हो जानेपर जो स्थिति होती है उसे निदिध्यासन नहीं कह सकते; वह तो ब्राह्मी स्थिति है।

उस समय उसे सारा प्रपञ्च मनोराज्य प्रतीत होता है। वह मनोराज्य शास्त्रीय और अशास्त्रीय दो प्रकारका है। जो अपठित होते हैं उन्हें अशास्त्रीय मनोराज्य होता है और जो पठित होते हैं उन्हें शास्त्रीय मनोराज्य रहता है। इस मनोराज्यकी निवृत्तिके लिये तथा ज्ञानरक्षा, तप, विसंवादाभाव, दुःखनाश और सुखप्राप्ति—इन पाँच प्रयोजनोंकी सिद्धिके लिये उसे हर समय नाम-रूप जगत्का बाध करते रहना चाहिये। ऐसा करते-करते जब वृत्ति स्थिर हो जाती है तब उसीको ब्राह्मी स्थिति कहते हैं।

प्र०—जीवन्मुक्ति और विदेहमुक्ति—इन दोनोंमें कौन श्रेष्ठ है ?

उ०—जीवन्मुक्ति और विदेहमुक्ति—इन दोनोंका चिन्तन करना ही अमंगल है ।

प्र०—उपासना और ज्ञानकी एकता किस प्रकार सम्भव है तथा ज्ञानी उपासना कर सकता है या नहीं ?

उ०—यदि ऐसा माना जाय कि ज्ञानीकी दृष्टिमें उपासक अन्य है तो वस्तुतः वह ज्ञानी ही नहीं, क्योंकि उसके लिये द्वैत बना हुआ है । और यदि वह उपासना करता है तो यह नहीं माना जा सकता कि उसकी दृष्टिमें जगत्‌का अत्यन्ताभाव हो गया है । अध्यारोप और अपवाद जिज्ञासुके ही लिये हैं । जगत् त्रिकाल-में नहीं है—यह अपवादमात्र है, इसे सिद्धान्त नहीं कह सकते । अतः यह विचारना चाहिये कि सिद्धान्त क्या है ?

हमें तीन प्रकारके ज्ञानी दिखायी देते हैं—(१) वामदेवादि, जो निर्विकल्प समाधिमें संलग्न हैं, (२) नारदादि, जो भगवद्भ-क्तिपरायण हैं और (३) वसिष्ठादि, जो कर्मकाण्डमें तत्पर हैं । इस समय ज्ञानियोंके विषयमें दो प्रकारके मत प्रचलित हैं । कुछ लोगोंका तो कथन है कि तत्त्ववेत्ता लोकसंग्रहार्थ अपने वर्णाश्रमा-नुसार सब प्रकारके कर्म करता रहता है तथा कुछ लोगोंका मत है कि ज्ञानीके लिये कुछ भी कर्तव्य नहीं है । यदि कहो कि वह स्वरूपदृष्टिसे कुछ भी नहीं करता किन्तु व्यवहारतः सब कुछ करता है, तो ऐसा कहना ठीक नहीं; क्योंकि यह बात तो सभीके विषय-में कही जा सकती है । अपना शुद्ध स्वरूप तो सभीका अक्रिय

है, उसमें ज्ञान अथवा अज्ञानसे कोई विशेषता थोड़े ही होती है। वस्तुतः ज्ञानीकी दृष्टिमें तो कोई अज्ञानी है ही नहीं, उसके लिये तो सब उसीके स्वरूप हैं।

प्र०—तो क्या इसका यही तात्पर्य है कि—

प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव।
न द्वेष्टि संप्रवृत्तानि न निवृत्तानि काङ्क्षति॥*

—इस भगवदुक्तिके अनुसार वह प्रारब्धप्राप्त सभी परिस्थितियोंमें उदासीन रहता है?

उ०—तुमने जिस उदासीनताकी बात कही है वह समष्टिदृष्टिसे है या व्यष्टिदृष्टिसे? तत्त्ववेत्ताकी दृष्टिमें तो समष्टि-व्यष्टिभेद ही नहीं है। ऐसी स्थितिमें अन्तःकरण ही कहाँ है? द्रष्टा तो सिद्ध वस्तु है और वह ज्ञानस्वरूप है। ज्ञानीकी स्थिति सर्वदा एक-आत्मवादपर ही रहती है; उसके लिये अनेक कर्ता हैं ही नहीं! अतः सारे संसारका व्यापार उसीका है।

प्र०—किन्तु यह भी तो औपचारिक दृष्टि ही है?

उ०—इसे औपचारिक क्यों कहते हो? यह क्यों नहीं कहते कि यहाँ व्यतिरेक करके अन्वय किया गया है। आजकल वेदान्तियोंसे एक बहुत बड़ी भूल होती है। वे व्यतिरेक तो करते हैं, किन्तु अन्वय नहीं करते। यदि अन्वयदृष्टिसे सारा प्रपञ्च उसीका

* हे अर्जुन! सत्त्वगुणकी वृत्ति प्रकाश, रजोगुणकी वृत्ति क्रिया और तमोगुणकी वृत्ति मोहके प्राप्त होनेपर ज्ञानी उनमें द्वेष नहीं करता और इनके न रहनेपर वैसी स्थितिकी इच्छा नहीं करता।

स्वरूप है, यदि निखिल प्रपञ्चरूपमें वही स्थित है, तो सब कुछ वही तो कर रहा है। वही उपासना करता है, वही कर्म करता है। लौकिक-अलौकिक, व्यावहारिक-पारमार्थिक सारी प्रवृत्तियाँ उसीकी तो हैं। सिद्धान्त यही है। सृष्टिका अत्यन्ताभाव तो जिज्ञासुके लिये ही उपदेश किया जाता है। सिद्धान्ततः तो 'अजोऽपि कल्पितसंवृत्त्या पारमार्थ्येन नाप्यजः' अर्थात् भगवान् अजन्मा हैं—यह कथन भी कल्पित व्यवहारदृष्टिसे ही है, वस्तुतः तो भगवान् अज भी नहीं हैं। भगवान् तो अज और जायमान दोनों ही हैं। यहाँ 'अज' का निषेध इसलिये किया गया है कि जन्म भी भगवान्से भिन्न नहीं है। वे स्वयं ही जन्मरूप भी हैं।

न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधकः।
न मुमुक्षुर्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता ॥*

—इस श्लोकसे सब प्रकारके विकल्पोंका निषेध किया गया और ऊपरकी उक्तिसे वस्तुको लक्षित कराया गया है।

एक बात मैं पूछता हूँ—तुम जो कहते हो कि 'परमार्थतः कुछ भी नहीं है' सो यह ज्ञान वृत्तिजन्य है या परमार्थ? देखो, वृत्तिके बिना कोई भी ज्ञान नहीं होता। जिस प्रकार घटाकार वृत्ति हुए बिना घटज्ञान नहीं होता, उसी प्रकार कोई भी ज्ञान हो वह वृत्तिसापेक्ष ही है। परन्तु परमार्थतः वृत्तिका भी अभाव है। जो ज्ञान वृत्तिको लेकर होगा वह 'मत' होगा, वह सिद्ध

---

* न प्रलय है, न उत्पत्ति है, न बद्ध है, न साधक है, न मुमुक्षु है और न मुक्त है—यही परमार्थ है।

वस्तु नहीं हो सकता। इसलिये वस्तुतः तो अद्वैतवाद भी एक मत ही है।

प्र०—हम तो द्वैतकी अपेक्षासे ही अद्वैत स्थापित करते हैं, वस्तुतः तो अद्वैत भी नहीं है।

उ०—यह क्यों कहते हो कि अद्वैत भी नहीं है? यह क्यों नहीं कहते कि द्वैत और अद्वैत दोनों वही हैं। हमें सिद्धान्ततः यह कथन अभिमत नहीं है कि व्यवहारतः प्रपञ्च है, परमार्थतः नहीं। यह केवल प्रक्रियामात्र है; वस्तुतः तो भाव और अभाव दोनों ही परमार्थरूप हैं। प्रपञ्चाभावको तो जिज्ञासु ही परमार्थ मानता है।

यदि हम स्वप्नमें ऐसा विचार करने लगें कि स्वप्न क्या है और स्वप्नद्रष्टा क्या है तो उस अवस्थामें भी उनका विवेक हो ही सकता है तथा उसी समय यह भी सिद्ध हो सकता है कि जीव, प्रकृति और ईश्वर, ये तीन तत्त्व हैं। परन्तु विचार किया जाय तो क्या वे सब स्वप्नद्रष्टासे भिन्न हैं? स्वप्नद्रष्टा ही तो समग्र स्वप्न-रूप है। अतः सिद्धान्त यही है कि यह सब कुछ द्रष्टा ही है।

आजकल जो अधिष्ठान-अध्यस्तक्रमसे विचार किया जाता है, उसमें एक बड़ा दोष यह रह जाता है कि जिज्ञासुजन इसीको सिद्धान्त मान बैठते हैं। वस्तुतः यह प्रक्रिया है। इसको सिद्धान्त मान बैठनेसे कर्म और उपासनासे द्वेष हो जाता है। हमें सोचना यह चाहिये कि यदि भगवान् निरुपाधिक हैं तो सोपाधिक कौन है? यदि वह लक्ष्यार्थ हैं तो वाच्यार्थ कौन है? यदि द्रष्टा ही सब कुछ हैं तो सोपाधिक वस्तु अथवा वाच्यार्थ क्या उससे भिन्न है?

परमार्थतत्त्वके विषयमें तीन पक्ष हैं—(१) मुझसे भिन्न कुछ नहीं है, (२) सब मैं ही हूँ और (३) सब कुछ वासुदेव ही है। इनमें पहला पक्ष व्यतिरेकज्ञान है, दूसरा पक्ष समन्वयबोध है और तीसरा भक्तिपक्ष है। विचारसे देखा जाय तो तीनों एक ही हैं।

मेरा कथन तो यह है कि जितना भी व्यवहार दिखायी देता है वह सब परमार्थ है; अज्ञान रहनेतक वह व्यवहार है परन्तु वस्तुतः वह परमार्थ ही है। बोध होनेसे वस्तुमें कोई अन्तर नहीं होता। वह ज्यों-की-त्यों बनी रहती है। जिस प्रकार स्वप्नकी वस्तुएँ ज्यों-की-त्यों रहते हुए ही जाग पड़नेपर यह निश्चय होता है कि यह सब स्वप्न ही था, उसी प्रकार तत्त्वदृष्टिसे यह प्रपञ्च ज्यों-का-त्यों भगवत्सत्ता ही है। विवेकीकी दृष्टिमें यह प्रपञ्चसत्ता है, किन्तु वस्तुतः आत्मसत्ता ही है।

× × × ×

प्र०—यदि आवरण भङ्ग करके वृत्ति नष्ट हो जाती है तो 'स्वरूपानुसन्धानेन वसेत्' 'निमिषार्द्धं न तिष्ठन्ति वृत्तिं ब्रह्ममयीं विना' इत्यादि वाक्य किस प्रकार चरितार्थ होंगे?

उ०—जिस समय द्रष्टा और दृश्यका विवेक करते-करते दृश्यका अत्यन्ताभाव निश्चय होता है उस समय जो कुछ रह जाता है वह क्या है? उस समय जिस वृत्तिसे सबका त्याग किया जाता है वह सर्वाभावरूपा वृत्ति रहती है। वह घटाकार-पटाकाररूपा विशेष वृत्तियोंके समान नहीं होती। वह समवृत्ति है; उसीको शुद्धा वृत्ति

कहते हैं। 'दृश्यते त्वग्रयया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः' इस श्रुतिने जिस सूक्ष्म बुद्धिका उल्लेख किया है वह यही है। किन्तु इसीका नाम साक्षात्कार नहीं है। उस समय जब 'दशमस्त्वमसि'* इस न्यायसे गुरु महावाक्यका उपदेश करता है तब उसीसे साक्षात्कार होता है। उसीको अभेदाकार वृत्ति या बोधवृत्ति कहते हैं और उसीका नाम वृत्तिव्याप्ति है। निषेधाकार वृत्ति समस्त उपाधिका निरासमात्र करती है; उससे बोध नहीं होता, केवल बोधग्रहणकी योग्यतामात्र होती है। उसके पश्चात् जब वृत्तिव्याप्ति होती है तो उसके लिये समस्त वृत्तियाँ जलतरङ्गवत् स्वरूपभूत हो जाती हैं, उसके लिये सारा संसार ब्रह्ममय हो जाता है। इसीका नाम स्वरूपानुसन्धान है। मरुभूमिका ज्ञान हो जानेपर फिर जलरूपसे प्रतीत होनेपर भी उसकी दृष्टिमें वह मरुभूमि ही रहती है। मैं

* एक बार दस आदमी साथ-साथ विदेशको जा रहे थे। मार्गमें उन्हें एक नदी पार करनी पड़ी। जब वे नदीके दूसरे तटपर पहुँचे तो, यह देखनेके लिये कि कोई बह तो नहीं गया, अपनी गड़ना करने लगे। गिनते समय प्रत्येक पुरुष अपने सिवा अन्य नौ व्यक्तियोंको ही गिनता था। इस प्रकार एक मनुष्य कम देखकर वे बड़े चिन्तित हुए। इतनेमें ही एक आप्त पुरुष आया। उसने उनकी चिन्ताका कारण सुनकर उन्हें एक पंक्तिमें खड़ा किया और पहलेके एक, दूसरेके दो—इस प्रकार डंडे लगाकर उन्हें एक ओर करता गया। जब दसवाँ आदमी आया तो उसके दस डंडे लगाकर कहा 'दशमस्त्वमसि'—(दसवाँ तू है)। इस प्रकार आप्त पुरुषकी उक्तिसे दशमका ज्ञान हो जानेपर वे सब शोकमुक्त हो गये। इसी प्रकार जब समस्त अनात्मवर्गका बाध कर देनेपर गुरुके द्वारा महावाक्यका उपदेश होता है उसी समय बोधका उदय हो जानेसे जिज्ञासुका सारा शोक निवृत्त हो जाता है।

देहादि हूँ—ऐसा भ्रम उसे कभी नहीं होता । जीवन्मुक्तावस्थामें जो कार्य होता है उसमें समष्टि-व्यष्टिका भेद नहीं रहता और न द्रष्टा-दृश्यका ही भेद रहता है । जिसे विवेक हुआ है उसे यह बोध निरन्तर रहता है कि सारा प्रपञ्च मुझसे भिन्न नहीं है । उसके लिये केवल एक ही सत्ता रह जाती है । उसकी इस दृष्टिमें कभी अन्तर नहीं आता ।

प्र०—हमें तो मालूम होता है कि सब कुछ परमात्मा ही है—यह अन्वयदृष्टि व्यतिरेकबोधसे नीची ही है ।

उ०—यह बात नहीं है । अन्वयदृष्टि तो व्यतिरेकके पश्चात् प्राप्त होती है । 'नेति-नेति' इत्यादि वाक्योंसे सबका बाध हो जानेपर यह जो कुछ प्रतीत होता है उसके लिये वह आत्मसत्तासे भिन्न नहीं होता । प्रवृत्ति-निवृत्ति, साधन-साध्य और लौकिक व्यवहार—सभी उसे अपनेसे अभिन्न प्रतीत होता है । बोध हो जानेपर यदि वह आत्मसत्तासे भिन्न किसीकी भी सत्ता देखता है तो वस्तुतः वह बोधवान् ही नहीं है । मेरे विचारसे तो यह बोधके अनन्तर किया जानेवाला स्वरूपानुसन्धान और अभेदभक्ति एक ही हैं । किन्तु यह स्वरूपानुसन्धान साधनकालीन स्वरूपानुसन्धानके समान नहीं होता । उस समय तो केवल निषेध वृत्तिका ही अभ्यास किया जाता है, किन्तु इस समय तो निषेध करनेयोग्य कोई वस्तु ही नहीं रहती, बल्कि सारी वस्तुएँ अपना स्वरूप ही हो जाती हैं ।

प्र०—समाधि और बोधमें क्या अन्तर है ?

उ०—समाधि निर्विकल्पावस्था है और बोध निर्विकल्पस्वरूप है; समाधि कर्ताके अधीन है और बोध अकृत्रिम है; निर्विकल्पावस्थामें वृत्ति रहती है, भले ही वह लीन हुई रहे। किन्तु बोधमें ऐसा नहीं होता। वह तो निर्विकल्पस्वरूप, सब प्रकारके विकल्पोंसे रहित, समाधि आदिसे रहित तथा आदि, मध्य एवं अन्तसे रहित है।*

प्र०—'यच्छेद्वाङ्मनसि प्राज्ञस्तद्यच्छेज्ज्ञान आत्मनि। ज्ञानं महति नियच्छेत्तद्यच्छेच्छान्त आत्मनि' इस श्रुतिका क्या तात्पर्य है?

उ०—यह श्रुति जीवन्मुक्तिके अभ्यासका निरूपण करनेवाली है। इसका तात्पर्य यह है कि विवेकी पुरुष वाणीका मनमें निरोध करे। वाणीके निरोधका यह अर्थ नहीं है कि बोलना बन्द कर दे; इससे केवल यही समझना चाहिये कि आवश्यकताके अनुसार ही बोले, निरर्थक भाषण न करे। श्रीमधुसूदन स्वामीने कहा है—'गोपश्वादिवद्वाङ्निरोधः' अर्थात् गौ एवं अन्य पशुओंके समान निरर्थक भाषणका निरोध करना चाहिये। इस प्रकार वाणीका मनमें निरोधकर मनको ज्ञानात्मा यानी बुद्धिमें लीन करे। मनके द्वारा नानात्वदर्शन हुआ करता है। उस नानात्वमें एकत्वको देखना बुद्धिका कार्य है, और यही मनका बुद्धिमें निरोध करना है। फिर बुद्धिका महत्तत्त्वमें निरोध करे। 'महत्तत्त्व' समष्टि बुद्धिका वाचक है; उस महत्तत्त्वको शान्तात्मामें लीन करे। यहाँ यह शङ्का होती

---

* निर्विकल्पस्वरूपात्मा सविकल्पविवर्जितः।
सदा समाधिशून्यात्मा आदिमध्यान्तवर्जितः॥

है कि क्रमको देखते हुए तो महत्तत्त्वका लय अव्यक्तमें होना चाहिये था, उसे छोड़कर शान्तात्मामें उसका लय करनेके लिये क्यों कहा गया ? इसका उत्तर यही है कि अव्यक्तमें लय करनेपर तो प्रकृतिलय हो जायगा और इससे जडता आ जायगी, जो किसी प्रकार भी अभीष्ट नहीं है। इसलिये उसमें लय न करके उसे शान्तात्मा अर्थात् अपने स्वरूपभूत प्रत्यगात्मामें ही लय करे।

प्र०—जो लोग बोध हो जानेपर वर्णाश्रमधर्मका त्याग कर देते हैं उनके विषयमें आपका क्या मत है ?

उ०—यद्यपि ज्ञानीके लिये शास्त्रका कोई शासन नहीं है, तथापि यह तो नियम ही है कि बोधकी प्राप्ति अन्तःकरणकी शुद्धि होनेपर ही होती है। एक बार दारागंज (बिजनौर) में श्रीमाधवानन्द सरस्वती आदि कई महात्माओंके सामने इस विषयमें विचार हुआ था। वहाँ अधिकांश महात्माओंका यही मत ज्ञात हुआ कि दैवी सम्पत्ति तो महात्माओंमें स्वभावसे ही रहा करती है, क्योंकि बिना निष्काम कर्मके चित्तशुद्धि नहीं होती और निष्काम कर्म दैवी सम्पत्तिवान् पुरुष ही कर सकता है। अतः स्वधर्मका यथावत् अनुष्ठान तो उसका स्वभाव ही बन जाता है। ज्ञानी तो चारों ही आश्रमोंमें होते हैं। जो पुरुष किसी आश्रमविशेषमें रहते हुए भी उसके नियमोंका उल्लङ्घन करते हैं उन्हें ज्ञानी कहा जाय या अज्ञानी ! हाँ, जो लोग आश्रमातीत हो गये हैं उनकी बात दूसरी है। किसी भी आश्रममें रहते हुए उसके नियमोंकी अवहेलना करना तो तमोगुण ही है।

प्र०—किन्तु यह भी तो देखा गया है कि पूर्वकालमें दुर्वासा आदि कई महात्मा ऐसे भी हुए हैं जिनकी प्रकृतिमें सदा आसुरी भाव रहता था तथा असुरोंमें भी कोई-कोई ज्ञानी हो गये हैं।

उ०—दुर्वासादि तो कारकपुरुष थे। उनमें जो क्रोधादि देखा जाता है वह तो उनकी लीलामात्र थी। तथा असुरोंमें जो ज्ञानी हुए हैं वे जन्मतः असुर थे, स्वभावतः नहीं। फिर भी यह कहा जाता है कि ये अपवादमात्र हैं, इन्हें आदर्श नहीं कह सकते। आदर्श तो ऋभु, निदाघ, वसिष्ठ और वामदेवादिके ही चरित्र हैं। मेरा तो यह सिद्धान्त है कि पूर्ण तत्त्ववेत्तामें दैवी सम्पत्तिकी ही प्रधानता होनी चाहिये; जैसा कि कहा है—

अक्रोधवैराग्यजितेन्द्रियत्वं
क्षमा दया सर्वजनप्रियत्वम्।
निर्लोभदानं भयशोकहानं
ज्ञानस्य चिह्नं दशलक्षणं च॥*

हाँ, यह सम्भव है कि पूर्वसंस्कारवश किसी-किसीमें कोई स्वभावदोष भी रहता देखा गया है। परन्तु यह सिद्धान्त नहीं हो सकता। यदि अद्वेष आदि गुण बोधवान्‌में नहीं होंगे तो और किसमें होंगे? स्थितप्रज्ञ, भक्त और गुणातीतके लक्षण ज्ञानीमें स्वभावतः ही रहते हैं।

प्र०—ब्रह्मज्ञान क्या है? और ब्रह्माभ्यास किसे कहते हैं?

---

* अक्रोध, वैराग्य, जितेन्द्रियता, क्षमा, दया, सर्वप्रियता, लोभहीनता, दान, निर्भयता और शोकहीनता—ये ज्ञानके दस लक्षण हैं।

उ०—ज्ञान अद्वैतावस्थानरूप है तथा ज्ञानाभ्यास अद्वैतभावना है। किन्तु यह भावना कर्तृजन्य नहीं होती। जो भावना द्वैतसम्बन्धिनी होती है वह कर्तृजन्य हुआ करती है, यह भावना अद्वैतसम्बन्धिनी होनेके कारण कर्तृजन्य नहीं होती। इस अद्वैतनिष्ठा-की उत्तरोत्तर वृद्धि करना ही ब्रह्माभ्यास है; जैसा कि कहा है—

तच्चिन्तनं तत्कथनमन्योऽन्यं तत्प्रबोधनम्।
एतदेकपरत्वं च ब्रह्माभ्यासं विदुर्बुधाः॥
दृश्यासम्भवबोधेन रागद्वेषादितानवे।
रतिर्बलोदिता यासौ ब्रह्माभ्यासं विदुर्बुधाः॥

अर्थात् ब्रह्मका चिन्तन करना, उसीका कथन करना, उसी-को आपसमें समझाना, इस एक निष्ठाको ही बुधजन ब्रह्माभ्यास कहते हैं। दृश्यकी असम्भवताके ज्ञानसे राग-द्वेषादिके तनु हो जानेपर जो बलवती रति उदित होती है वह ब्रह्माभ्यास कहलाता है।

प्रश्न—

निमिषार्धं न तिष्ठन्ति वृत्तिं ब्रह्ममयीं विना।
यथा तिष्ठन्ति ब्रह्माद्या नारदाद्याः शुकादयः॥*

—इस श्लोकमें यथावत् बोध हो जानेके पश्चात् भी वृत्तिको ब्रह्माकार करनेका आग्रह किया गया है। तथा—

* तत्त्ववेत्ता पुरुष आधे पलके लिये भी ब्रह्माकार वृत्तिको छोड़कर नहीं रहते, जैसे कि ब्रह्मादि प्रजापतिगण, नारदादि देवर्षिगण और शुकादि परमहंसगण निरन्तर ब्रह्माकार वृत्तिमें ही स्थित रहते हैं।

ज्ञानामृतेन तृप्तस्य कृतकृत्यस्य योगिनः ।
नैवास्ति किञ्चित्कर्त्तव्यमस्ति चेन्न स तत्त्ववित् ॥*

—इस श्लोकमें ज्ञानीके लिये कोई कर्त्तव्य ही नहीं वतलाया गया। इन दोनोंकी संगति किस प्रकार होगी ?

उ०—पहले श्लोकमें बोध होनेके पश्चात् भी वृत्तिको ब्रह्माकार करनेका आग्रह नहीं किया है, उनकी तो सदा-सर्वदा ब्रह्माकार वृत्ति स्वाभाविक ही रहती है। और यहाँ दूसरे श्लोकमें 'ज्ञानामृतेन तृप्तस्य' ऐसा पाठ है। अतः इसके द्वारा अकर्त्तव्यका विधान उसी-के लिये किया गया है जो ज्ञानामृतसे तृप्त है अर्थात् जो आत्म-तृप्तिवान् है। जिज्ञासा क्यों होती है? इसीलिये न कि उसे सांसारिक पदार्थोंसे तृप्ति नहीं होती ? इस प्रकार जिसे अनात्मपदार्थोंसे तृप्ति नहीं होती वही आत्मानुसन्धानमें प्रवृत्त होता है। पीछे आत्मा-नुसन्धान करते-करते जब पूर्ण तृप्ति हो जाती है उसी समय वह कृतकार्य हो जाता है। तभी उसके लिये कोई कर्त्तव्य नहीं रहता। इससे पूर्व तो उसे ब्रह्माभ्यासमें ही तत्पर रहना चाहिये; जहाँतक सम्भव हो ब्रह्माकार वृत्तिको बढ़ानेका ही प्रयत्न करते रहना चाहिये। श्रीमद्भगवद्गीतामें भी उसीके लिये कर्त्तव्याभाव बतलाया है जो सब प्रकार केवल अपने आपमें ही तृप्त है।

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः ।
आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते ॥

---

* जो योगी ज्ञानामृतसे तृप्त और कृतकृत्य है उसको कोई कर्त्तव्य नहीं है। यदि उसको भी कोई कर्त्तव्य दिखायी देता है तो वह तत्त्ववेत्ता नहीं है।

अतः सारांश यह है कि जो आत्मरतिसे तृप्त हो गया हो उसीके लिये शास्त्र कर्त्तव्यका अभाव बतलाता है।

प्र०—तृप्ति क्या है और किसे होती है?

उ०—यहाँ 'तृप्ति' शब्दसे आसक्ति अभिप्रेत है। यह आत्मतृप्ति उसीको होती है जिसे आत्मज्ञानकी प्राप्तिके पूर्व अज्ञान था; ये सब वृत्तिके ही व्यापार हैं, सिद्ध वस्तु तो ज्यों-की-त्यों अविकृत भावसे रहा करती है।

प्र०—कहते हैं, अज्ञान तो आत्माको ही हुआ है।

उ०—इस बातको कहता कौन है? अज्ञानको देखा किसने है? और यदि उसे किसीने देखा नहीं है तो वह अमुकको हुआ है— ऐसा कहेगा कौन?

प्र०—ब्रह्माभ्यासका क्या स्वरूप है?

उ०—

तच्चिन्तनं तत्कथनमन्योऽन्यं तत्प्रबोधनम्।
एतदेकपरत्वं च ब्रह्माभ्यासं विदुर्बुधाः॥*

यह श्लोक भक्त और जिज्ञासु दोनोंहीके लिये है। भगवान्के नाम, गुण और लीलाओंका कीर्तन एवं श्रवण करना भक्तका अभ्यास है तथा 'संसार क्या है और मैं क्या हूँ' इसका विचार ज्ञानमार्गीका अभ्यास है। उसकी दृष्टिमें वही सर्व है और वही

* ब्रह्मका चिन्तन करना, उसीके सम्बन्धमें बातचीत करना और एक दूसरेको समझाना-बुझाना—इस प्रकार एकमात्र ब्रह्मपरायण हो जानेको ही विज्ञजन ब्रह्माभ्यास कहते हैं।

सर्वातीत है। अन्तर्मुखदृष्टिसे वह सर्वातीत है और बहिर्वृत्ति होनेपर वही सर्वस्वरूप है। इसीको वेदान्तियोंका ब्रह्माभ्यास कहते हैं। किन्तु इनमें अन्वयरूप अभ्यास वही कर सकता है जिसे स्वरूपका बोध हो गया हो। जो अतत्त्वज्ञ है वह इस अभ्यासका अधिकारी नहीं है। जिस प्रकार कोई बहुत बड़ा धनी हो और उसकी जगह-जगह बहुत-सी कोठियाँ एवं अनन्त धन-धान्य हो तो वह किसी भी स्थानपर रहे, उसे अपनी सम्पूर्ण सम्पत्तिका अभिमान बना ही रहता है, वह जानता है कि मेरी सम्पत्ति सर्वत्र है। इसकी आवश्यकता नहीं कि वह सारी सम्पत्ति उसके सामने ही रहे। इसी प्रकार जिसका यह दृढ़ निश्चय है कि सारा प्रपञ्च मेरा ही स्वरूप है, उसके लिये गोलोक, वैकुण्ठ, स्वर्ग, नरक सब उसीका स्वरूप है; उसीका नहीं, वस्तुतः वही है।

हाँ, साधकको तो निषेधका ही आश्रय लेना चाहिये; परन्तु उसीमें रह जाना बहुत बड़ी कमी है। इससे न तो पूर्णता ही होती है और न राग-द्वेषका अत्यन्ताभाव ही। इस प्रकारका अभ्यास करते-करते जब बोधकी दृढ़ता हो जाती है तो स्वयं ही उसकी दृष्टिमें सारा प्रपञ्च आत्मस्वरूप हो जाता है। गढ़मुक्तेश्वरमें मुझसे एक महात्माने कहा था कि एक बार जब वे हरिद्वारमें थे, श्रीपूर्णाश्रम स्वामी वहाँ आये। उन दिनों इतना कड़ा शीत था कि सब लोग बहुत-से कपड़े पहननेपर भी ठिठुरे जाते थे; परन्तु लोगोंने देखा कि स्वामीजी दिगम्बर होनेपर भी सर्वथा निश्चल थे, उनके

शरीरमें रोमाञ्च भी नहीं देखा जाता था। कुछ महात्माओंने उनसे इसका कारण पूछा, तो स्वामीजीने कहा—

त्वमर्कस्त्वं सोमस्त्वमसि पवनस्त्वं हुतवह-
स्त्वमापस्त्वं व्योम त्वमु धरणिरात्मा त्वमिति च।
परिच्छिन्नामेवं त्वयि परिणता बिभ्रति गिरं
न विद्मस्तत्तत्त्वं वयमिह तु यत्त्वं न भवसि॥*

मुझे इस बातकी भ्रान्ति त्रिकालमें भी नहीं होती कि शीत-उष्ण, सुख-दुःख, कोई भी द्वन्द्व मुझसे भिन्न हैं; मैं चिदाकाश हूँ—इस बातका मुझे निरन्तर अनुभव रहता है।

प्र०—इससे तो यह जान पड़ता है कि जिनमें तितिक्षाकी कमी देखी जाती है उनमें बोधकी कमी रहती है।

उ०—बोधमें कमी न भी हो तो भी बोधनिष्ठामें तो कमी माननी ही पड़ेगी। ब्रह्मनिष्ठमें तितिक्षाका होना स्वाभाविक है। देखो, जिस प्रकार यह शरीर मुझसे भिन्न है उसी प्रकार प्राण और मन भी तो हमसे भिन्न हैं। परन्तु जिस प्रकार हम अपने शरीरके अवयवोंको इच्छानुसार काममें ला सकते हैं उस प्रकार मन और प्राणपर हमारा शासन नहीं है। प्राण और बुद्धि स्वाधीन न होनेके कारण हम इनके अधिपति होनेपर भी उस आधिपत्यको खो चुके हैं। सनकादि और वर्तमान बोधवानोंके बोधमें कुछ भी

---

* तुम सूर्य हो, तुम चन्द्रमा हो, तुम पवन हो, तुम अग्नि हो, तुम जल हो, तुम आकाश हो, तुम भूमि हो और तुम्हीं आत्मा हो। इस प्रकार तुम्हारे प्रति इस परिच्छिन्न वाणीका प्रयोग करते हुए हम ऐसा कोई तत्त्व नहीं जानते जो तुम नहीं हो।

अन्तर नहीं है, किन्तु सनकादि महर्षियोंको एक क्षणके लिये भी स्वरूपविस्मृति नहीं होती; इसीसे उनकी यथेच्छ गति है। उनके दिव्य शरीर हैं। भगवान् श्रीकृष्णने जो रासलीला की थी वह क्या बिना मन और प्राणका आधिपत्य हुए होनी सम्भव थी! इसी प्रकार श्रीपूर्णाश्रमजीके समान जो कोई दिव्य देहधारी योगी उत्पन्न हो जाते हैं उनमें हमलोगोंकी अपेक्षा अधिक तितिक्षा देखी ही जाती है। किन्तु यदि हमें वस्तु लक्षित हो गयी है तो बोधमें तो हमारे और उनके बीच कोई अन्तर हो ही नहीं सकता। जो बोध वसिष्ठादिको था वही यदि हमें न हो तो वह बोध ही क्या हुआ? एक बार मैंने अच्युत मुनिजीसे पूछा था कि अज्ञान किसे कहते हैं? उन्होंने कहा—'लोग जो कहते हैं कि जो ज्ञान वसिष्ठादिको प्राप्त था वह क्या हमें हो सकता है—यही अज्ञानका प्रधान चिह्न है।' परन्तु यह कथन बोधके ही विषयमें है।

प्र०—बोध हो जानेपर राग-द्वेषादि मनके विकार रहते हैं या नहीं?

उ०—

वीतरागभयक्रोधैर्मुनिभिर्वेदपारगैः।
निर्विकल्पो ह्ययं दृष्टः प्रपञ्चोपशमोऽद्वयः॥*

इस कारिकासे यही सिद्ध होता है कि बोध राग-द्वेषकी निवृत्ति होनेपर ही होता है। जिसे यह अनुभव होता है कि मेरे

---

* जिन विरक्त मुनियोंके राग, भय और क्रोध निवृत्त हो गये हैं उन्हींको ही इस प्रपञ्चशून्य अद्वितीय निर्विकल्प ब्रह्मका साक्षात्कार होता है।

अन्दर राग-द्वेष हैं उसे कभी बोधवान् नहीं समझना चाहिये। बोधवान्की दृष्टिमें तो राग-द्वेषका अत्यन्ताभाव हो जाता है। जब उसकी समष्टिदृष्टि हो गयी तो उसे राग-द्वेष हो कैसे सकते हैं? राग-द्वेष तो मनके विकार हैं और उसके मनका तो विवेककालमें ही सर्वथा अभाव-सा हो जाता है।

प्र०—बोधवान्के लिये समाधिका मुख्य साधन क्या है?

उ०—बोधवान्के विषयमें कहा है—

समाधिमथ कर्माणि मा करोतु करोतु वा।
हृदयेनास्तसर्वास्थः मुक्त एवोत्तमाशयः॥

अर्थात् 'ब्रह्मवेत्ता समाधि या कर्मोंका अनुष्ठान करे अथवा न करे। हृदयसे समस्त आस्थाओंके निवृत्त हो जानेके कारण वह शुद्धचित्त महात्मा मुक्त ही है।' इससे सिद्ध होता है कि समाधिके लिये अभ्यास करना-न-करना बोधवान्की इच्छाके अधीन है। यदि वह समाधि करता है तो निरन्तर दृश्यके अत्यन्ताभावका ही चिन्तन करता है। इस विषयमें यह प्रमाण भी है—

अत्यन्ताभावसम्पत्तौ ज्ञातुर्ज्ञेयस्य वस्तुनः।
युक्त्या शास्त्रैर्यतन्ते ये ते तत्राभ्यासिनः स्थिताः॥

अर्थात् ज्ञाताकी ज्ञेय वस्तुका अत्यन्ताभाव निष्पन्न हो जानेपर जो लोग शास्त्र और युक्तिपूर्वक निरन्तर प्रयत्न करते रहते हैं वे ही उस निष्ठामें अभ्यास करनेवाले हैं।

प्र०—अधिक कार्य करनेसे शरीरमें तादात्म्य हो जाता है।

आप कोई ऐसा उपाय बतलाइये जिससे किसी भी प्रकार स्वरूप-विस्मृति न हो ।

उ०—इसके लिये अभ्यासकी दृढ़ताकी आवश्यकता है । दृढ़ अभ्यास होनेपर, कैसा ही झंझट क्यों न हो, चित्त अपने लक्ष्यसे विचलित नहीं होगा । इसलिये निरन्तर ब्रह्माकार वृत्तिका अभ्यास करते रहना चाहिये ।

प्र०—अन्तकालमें पीड़ाकी अधिकता रहती है अथवा चेतना-शून्य स्थिति हो जाती है, इसलिये उस समय यदि स्वरूपकी विस्मृति हो गयी तो मुक्ति कैसे होगी ?

उ०—मुक्ति मरनेपर नहीं हुआ करती । जिसे यथावत् सुदृढ़ बोध हो गया है वह तो जीवित रहते हुए ही मुक्त हो जाता है । ऐसा जीवन्मुक्त कैसी ही अवस्थामें देह त्याग करे, वह मुक्त हो ही जायगा ।

प्र०—कहते हैं, स्वप्नकी त्रिपुटी नयी होती है । यदि ऐसी बात है तो जाग्रत्में उसकी स्मृति किस प्रकार होती है ?

उ०—जाग्रत्-अवस्थामें जो अभिमानी है वह जाग्रत्-अवस्थाका अभिमानी नहीं बल्कि जाग्रत्-पुरुषका अभिमानी है । जो सम्पूर्ण जाग्रत्-अवस्थाका अभिमानी है उसे स्वप्न नहीं होता, बल्कि जाग्रत्पुरुषाभिमानीको ही होता है । स्वप्नावस्थामें उससे भिन्न किसी अन्य अन्तःकरणकी उत्पत्ति नहीं होती, बल्कि उसे अपने अन्तः-करणपर पड़े हुए संस्कारोंकी ही अनुभूति हुआ करती है । जो यह कहा जाता है कि स्वप्नमें नवीन त्रिपुटीका उदय होता है वह

जाग्रत्-अवस्थाके अभिमानीकी दृष्टिसे है । जो समष्टि जाग्रत् अथवा समष्टि स्वप्नका अभिमानी है उसे ही तत्त्ववेत्ता कहते हैं । वह जिस प्रकार समष्टि जाग्रत्का अभिमानी है उसी प्रकार समष्टि स्वप्नका भी है अतः उसके लिये जैसे स्वप्न प्रातिभासिक है उसी प्रकार जाग्रत् भी प्रातिभासिक ही है । स्वप्न और जाग्रत् उसके लिये केवल स्वप्नान्तरमात्र हैं । अतः जिस प्रकार जाग्रत्में जाग्रत्की त्रिपुटी उसकी दृष्टिका विलास है, उसी प्रकार स्वप्नमें स्वप्नकी त्रिपुटी भी उसकी दृष्टिकी ही सृष्टि है । वह दृष्टिसृष्टिवादी है; अतः प्रत्येक अवस्थामें जिस सृष्टिकी प्रतीति होती है वह उसकी ही दृष्टिकी नूतन सृष्टि है ।

प्र०—प्रपञ्चका निषेध करते समय क्या उसके असत्यत्वका भी विचार करना चाहिये ?

उ०—निषेध दो प्रकारका है—विवेकीका और बोधवान्का । बोधवान् प्रपञ्चका अवस्तुत्व देखता है, इसलिये निषेध करता है; तथा विवेकी उसे अनात्मा जानकर अपनेको उससे भिन्न अनुभव करनेके लिये उसका निषेध करता है । विवेकीके निषेधमें प्रपञ्चकी पृथक् सत्ता रहती है, किन्तु बोधवान् उसकी असत्ता देखता है ।

प्र०—यदि वृत्तिका काम आवरणभंग ही है तो वृत्तिव्याप्तिका क्या अर्थ है ?

उ०—वृत्तिका स्वतः कोई स्वरूप नहीं है । वह जिस विषयमें जाती है तद्रूप हो जाती है और उसीके अनुसार उसका स्वरूप देशकालावच्छिन्न हो जाता है । फिर उस वस्तुका स्फुरण

चिदाभाससे होता है। उसका नाम फलव्याप्ति है। यह नियम इदंरूपसे स्फुरित होनेवाले पदार्थोंके विषयमें है। आत्मा कोई परिच्छिन्न अथवा परप्रकाश्य पदार्थ नहीं है। अतः जब समस्त अनात्मवस्तुओंका बाध करके वृत्ति अहमर्थमें पहुँचती है तो उसमें कोई परिच्छेद न होनेके कारण उससे किसी आकारविशेषका स्फुरण नहीं होता। अनात्मपदार्थोंका निषेध करते-करते जब अभावाकार वृत्ति होती है तो उसे ही श्रुतिप्रतिपादित* सूक्ष्म बुद्धि कहते हैं। उस समय गुरुकृपासे तत्त्वबोध होता है। तत्त्वबोधके होते ही फिर अनात्मवस्तु कुछ भी नहीं रहती। फिर तो समुद्रसे तरंग, सूर्यसे किरण और मृत्तिकासे घटादिके समान उसे कोई भी वस्तु अपनेसे भिन्न प्रतीत नहीं होती।

प्र०—किन्तु सूक्ष्म बुद्धि भी तो गुणमयी ही होती है; उस गुणमयी बुद्धिसे गुणातीत वस्तुका दर्शन कैसे हो सकता है?

उ०—सूक्ष्म बुद्धिसे भी पदार्थका इदंतया दर्शन नहीं होता, बल्कि उससे वह लक्षित होता है। बुद्धिवृत्ति केवल आवरण भंग करती है; वस्तु तो स्वयंप्रकाश है, उसे प्रकाशित करनेमें बुद्धिकी अपेक्षा नहीं होती। इसीसे महावाक्यके 'तत्' और 'त्वम्' पदकी एकता भी अभिधावृत्तिसे नहीं होती, वहाँ भी लक्षणा करनी पड़ती है; क्योंकि परमार्थतत्त्व किसी भी शब्दका वाच्य नहीं है।

प्र०—ज्ञान और ज्ञाननिष्ठामें क्या अन्तर है?

उ०—परमार्थ वस्तु यह है—इस बातको जान लेना 'ज्ञान'

---

* दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मबुद्धिभिः।

है, जैसे किसीका पिता यह बतलाकर मर गया कि हमारे पास एक लाख रुपया है और यह विश्वास भी हो गया कि हमारे घरमें किसी स्थानपर लाख रुपये गड़े हुए हैं; परन्तु उन्हें कभी खोदकर नहीं देखा और न उनका कोई उपयोग ही किया। ऐसी अवस्थामें अपने लखपती होनेका अभिमान होनेपर भी वह रहा कंगाल-का-कंगाल ही तथा उसका भूखों मरना भी नहीं छूटा। इसी प्रकार जबतक अभ्यासद्वारा बोधवृत्तिकी स्थिरता नहीं होती तबतक वस्तु लक्षित हो जानेपर भी ब्रह्मानन्दकी प्राप्ति नहीं होती। इस बोधवृत्तिकी स्थिरताका नाम ही 'ज्ञाननिष्ठा' है।

प्र०—वृत्ति नित्य है या अनित्य ?

उ०—अज्ञानीकी दृष्टिसे वृत्ति नित्य है। बोध हो जानेपर भी जबतक प्रारब्ध शेष है तबतक तो वृत्ति रहेगी ही। प्रारब्ध क्षय होते ही वृत्ति भी क्षीण हो जायगी, किन्तु अज्ञानियों और उपासकोंकी वृत्ति देहपातके पश्चात् भी नहीं छूटती, यह अकाट्य सिद्धान्त है। सृष्टिसे दृष्टिको हटाना—यह योग है और दृष्टिसे सृष्टिको बनाना यह वेदान्त है। इसीको दृष्टिसृष्टिवाद कहते हैं। इस दृष्टिका निवृत्त हो जाना ही मोक्ष है।

प्र०—अज्ञानकी निवृत्ति होते ही द्वैतकी निवृत्ति हो जाती है; फिर गुरु-शिष्यादिसम्बन्ध किस प्रकार रहता है ?

उ०—बोधवान्का गुरु-शिष्यादि व्यवहार भी अद्वैतमें ही होता है, उसमें द्वैत नहीं है। मरुभूमिमें जो तरंग, फेन एवं बुद्बुदादिकी प्रतीति होती है वह यद्यपि मरुभूमिके याथात्म्यको

जाननेवाले और न जाननेवाले दोनोंको समान ही होती है; तथापि जाननेवालेके लिये वह सब मरुस्थलमात्र ही है। इसी प्रकार बोधवान् यद्यपि सब प्रकारका व्यवहार देखता है तथापि वह उसके शुद्ध स्वरूपसे भिन्न कुछ भी नहीं है। कहीं वह युद्ध करता है, कहीं कर्मानुष्ठान करता है, कहीं उपासनामें तत्पर है और कहीं तरह-तरहके लौकिक व्यवहारोंमें संलग्न है; किन्तु उसकी दृष्टिमें ये सब उसका अपना-आप ही तो है।

प्र०—बोधदृष्टि क्या है?

उ०—लोकमें चार प्रकारकी दृष्टियाँ हैं—(१) भगवान् सबमें हैं—यह भेददृष्टि है; (२) भगवान् सर्वत्र हैं—यह विराट्‌रूपसे भगवान्‌की उपासना करनेवालोंकी दृष्टि है; (३) भगवान् सबसे अलग हैं—यह निर्गुणोपासकोंकी दृष्टि है और (४) भगवान् ही भगवान् हैं—यह सगुणोपासकोंकी दृष्टि है, जो भगवान्‌के सिवा और किसी वस्तुकी ओर दृष्टि ही नहीं देते। जिसमें ये चारों दृष्टियाँ आ जाती हैं और जो इन चारों दृष्टियोंसे अलग है उसे बोधदृष्टि कहते हैं।

ज्ञानीमें दो बातें नहीं रहतीं—पापमें प्रीति और विषयजन्य सुख। ज्ञानी स्त्री-पुत्रादि साधनोंसे प्राप्त होनेवाले सुखमें आसक्त नहीं होता, वह इन सबके त्यागका ही आनन्द भोगता है। इस अनासक्तिके कारण ही उससे कोई अशुभ कर्म नहीं होता। उसने तो अशुभ कर्मोंका त्याग करके ही ज्ञानरूप परम धनको प्राप्त किया है, फिर वह उनमें क्यों प्रवृत्त होगा। यदि ज्ञान

होनेपर भी अशुभ कर्म होते रहे तो ज्ञानसे लाभ ही क्या हुआ ? तथा ज्ञान और अज्ञानमें अन्तर ही क्या हुआ ? मुझे गीताका यह श्लोक सबसे अच्छा जान पड़ता है—

यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः॥*

मुक्त होनेपर शरीर छूट जाना चाहिये—ऐसा नियम नहीं है। शरीर भी बना रहता है और जीव मुक्त भी हो जाता है; जिस प्रकार कोई मकान-मालिक जब अपने मकानको दूसरेको दे देता है तो उसे उसके टूटने-फूटनेका भय एवं दुःख नहीं रहता। इस प्रकार वह दुःखमुक्त भी हो जाता है और मकान भी बना रहता है। इसी तरह ज्ञान होनेपर शरीर भी बना रहता है और मुक्ति भी हो जाती है।

वैराग्यका फल बोध है और बोधका फल उपरति है। इतना अन्तर अवश्य है कि वैराग्य होनेपर विषयमें ग्लानि हो जानेके कारण उसे भोगा नहीं जाता और उपरति होनेपर वस्तु सामने रहनेपर भी उसे भोगनेकी प्रवृत्ति ही नहीं होती। उपरतिका फल आनन्द है और आनन्दका फल शान्ति है।

उपन्यास-समाचारपत्रादि अशास्त्रावलोकनकी अपेक्षा शास्त्र-चिन्तन अन्तरङ्ग है, शास्त्रचिन्तनकी अपेक्षा नामकीर्तन अन्तरङ्ग है, नामकीर्तनकी अपेक्षा नामजप अन्तरङ्ग है तथा

* जिससे संसार खिन्न नहीं होता और जो संसारसे खिन्न नहीं होता तथा जो हर्ष, अमर्ष, भय और उद्वेगसे रहित है वह मेरा प्यारा है।

नामजपकी अपेक्षा ध्यान, ध्यानकी अपेक्षा ध्यानजनित आनन्द और उस ध्यानानन्दकी अपेक्षा निर्विकल्पता अन्तरङ्ग है।

जो चीज़ मुँहसे छू जाती है वह जूठी हो जाती है। शब्द मुखसे निकलता है, इसलिये जो कुछ कहा जायगा जूठा ही होगा।

पूर्ण बोधकी प्राप्तिके लिये जिज्ञासुको इस क्रमसे अभ्यास करना चाहिये। पहले द्रष्टा और दृश्यको अलग-अलग अनुभव करे। फिर सम्पूर्ण दृश्यको एक सत्तामें लाकर उससे अपनेको द्रष्टारूपसे पृथक् देखे। तत्पश्चात् दृश्यको अपनी ही दृष्टिके विलास-रूपसे अनुभव करे और फिर उसे लीन करनेकी भी इच्छा न करे। इस प्रकार अपने लक्ष्यका पूर्ण निश्चय हो जानेपर उसका उठना-बैठना आदि सभी व्यवहार शान्त हो जाता है। प्राणोंकी निःस्पन्दता भी अपनेको प्राणसाक्षीरूपसे अनुभव किये बिना नहीं हो सकती।

राजाका बल स्थूलशरीरतक है, शास्त्रका शासन सूक्ष्मशरीर-तक है और मायाका प्रभाव कारणशरीरतक है। राजा अधिक-से-अधिक फाँसी दे सकता है, शास्त्र नरकमें ले जा सकता है और माया मोह उत्पन्न कर सकती है। किन्तु तत्त्ववेत्ताकी स्थिति तो इन सबसे परे अपने शुद्धस्वरूपमें होती है; इसलिये उसे इनमेंसे किसीसे भय नहीं है।

प्र०—ब्रह्ममें अध्यास कैसे हुआ ?

उ०—अध्यासका कारण अज्ञानदशामें ढूँढ़ते हो या ज्ञानदशा-में ? अज्ञानदशामें तो जो कुछ भी कारण मिलेगा वह स्वयं भी

अध्यस्त ही होगा और ज्ञानदशामें अध्यास रहता नहीं, इसलिये उसका कारण ढूँढ़ना नहीं बनता। इसलिये जिज्ञासुको अध्यासका कारण न ढूँढ़कर अधिष्ठानकी ही खोज करनी चाहिये। अधिष्ठान-ज्ञानसे यह निश्चय हो जायगा कि वस्तुतः अध्यास कभी हुआ ही नहीं। यह जो कुछ प्रतीत होता है बिना हुआ ही भास रहा है। लोग सूर्यको तिमिरारि कहते हैं; किन्तु क्या सूर्यने कभी तिमिर (अन्धकार) को देखा है।

प्र०—काम-क्रोधादिके प्रति बोधवान्‌की क्या दृष्टि रहती है?

उ०—बोधवान्‌की दृष्टिमें इनका अत्यन्ताभाव है। जब उसकी दृष्टिमें इनके आश्रयभूत चित्तकी ही सत्ता नहीं है तो इनकी स्थिति तो हो ही कैसे सकती है?

प्र०—जगत्‌का अत्यन्ताभाव और ब्रह्मको अभिन्ननिमित्तोपादा-नकारण माननेमें क्या अन्तर है?

उ०—समुद्रका शान्त स्वरूप अत्यन्ताभावका और उसकी सतरङ्गावस्था अभिन्ननिमित्तोपादानका दिग्दर्शन कराती है। प्रपञ्चाभाव शुद्ध चिति है और प्रपञ्चसत्ता चिद्विलास है। वह निःस्पन्द चिति है और यह सस्पन्द चिति है। इनमेंसे किसी भी पक्षमें आग्रह नहीं होना चाहिये। श्रुति कहती है—

जीवन्मुक्तिपदं त्यक्त्वा स्वदेहे कालसात्कृते।
विशत्यदेहमुक्तत्वं पवनोऽस्पन्दतामिव॥*

* अर्थात् अपने देहके कालकवलित होनेपर बोधवान् पुरुष वायुके निःस्पन्द हो जानेके समान जीवन्मुक्तिपदको त्यागकर विदेहमुक्ति प्राप्त कर लेता है।

प्र०—'ज्ञानादेव तु कैवल्यम्' इस वाक्यमें ज्ञान और कैवल्य-का क्या सम्बन्ध है ?

उ०—'ज्ञान' शब्दकी व्युत्पत्ति दो प्रकार है—'ज्ञायते अनेन इति ज्ञानम्'[1] और 'ज्ञायते इति ज्ञानम्'[2]। इनमें पहला ज्ञान करण-रूप है और दूसरा स्वरूपभूत। इस वाक्यमें पहला अर्थ लिया गया है। यहाँ ज्ञान ही कैवल्यरूप नहीं है बल्कि कैवल्यका हेतु है। अतः यह वृत्तिज्ञान है, स्वरूपज्ञान नहीं। स्वरूपज्ञान तो प्रपञ्चाभाव निश्चय करनेपर ही प्राप्त होता है।

प्र०—जीवन्मुक्ति और विदेहमुक्ति किसे प्राप्त होती हैं ?

उ०—जीवन्मुक्ति, विदेहमुक्ति भी स्वप्न ही हैं। एक ही द्रष्टामें ऐसा कोई व्यापार होना सम्भव नहीं है। यह केवल व्यावहारिक दृष्टि है। अष्टावक्र मुनि कहते हैं—

एको द्रष्टासि सर्वस्य मुक्तप्रायोऽसि सर्वदा।
अयमेव हि ते बन्धः द्रष्टारं पश्यसीतरम्॥*

अतः जीवन्मुक्ति और विदेहमुक्ति भी व्यावहारिक ही हैं। ये अनेक द्रष्टा माननेपर ही सम्भव हैं। एक सर्वसाक्षी अखण्ड चेतनमें इनका होना सम्भव नहीं है। इनका सम्बन्ध स्वप्न-पुरुषोंसे ही है। समाधि भी स्वप्नपुरुषको ही होती है, स्वप्नद्रष्टासे समाधिका कोई सम्बन्ध नहीं है। विद्यारण्य स्वामी कहते हैं—

---

१ जिसके द्वारा जाना जाय उसे ज्ञान कहते हैं। २ जो जाना जाता है उसे ज्ञान कहते हैं।

* तू सबका एक ही द्रष्टा है और सर्वदा मुक्तप्राय है। यही तेरा बन्धन है कि तू अपनेसे भिन्न कोई और द्रष्टा देखता है।

विक्षेपो नास्ति मे यस्मान्न समाधिस्ततो मम ।
विक्षेपो वा समाधिर्वा मनसः स्याद्विकारिणः ॥*

प्र०—'यो बुद्धेः परतस्तु सः' (जो बुद्धिसे परे है वह ब्रह्म है) और 'बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्' (जो बुद्धिसे ग्राह्य और इन्द्रियातीत है) इन वाक्योंमें आये हुए 'बुद्धि' शब्दके अर्थोंमें क्या अन्तर है ?

उ०—'यो बुद्धेः परतस्तु सः' यह वस्तुका निर्णय है । इसमें केवल यह बतलाया गया है कि आत्मतत्त्व ऐसा है । यहाँ 'बुद्धि' शब्दसे व्यावहारिक बुद्धि समझनी चाहिये । किन्तु 'बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्' यह साक्षात्कार है । यहाँ 'बुद्धि' शब्दसे शुद्ध बुद्धिका ग्रहण करना चाहिये । इसीको भगवान्ने बुद्धियोग कहा है । ऐसी शुद्ध बुद्धि केवल भगवत्कृपासे ही प्राप्त होती है । राजालोग अपनेको किरीट, कुण्डल एवं बहुमूल्य वस्त्रादिसे विभूषित कर स्वयंवर-मण्डपमें जाते हैं, वे केवल इतना ही कर सकते हैं । उन्हें वरमाला पहनाना तो राजकन्याकी इच्छापर ही निर्भर है । इसी प्रकार साधक केवल साधन कर सकता है, उसे अपना साक्षात्कार कराना तो भगवान्की इच्छापर निर्भर है ।

प्र०—यदि जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति, इन अवस्थाओंकी सन्धिमें केवल शुद्ध स्वरूप ही रहता है तो इनकी स्मृति किस प्रकार होती है ?

उ०—दृष्टिसृष्टिवादकी रीतिसे प्रत्येक अवस्था चेतनकी केवल

* क्योंकि मुझ शुद्ध चेतनमें कोई विक्षेप नहीं है, इसलिये मुझे समाधि भी नहीं होती । विक्षेप और समाधि ये तो विकारी मनको ही होते हैं ।

दृष्टिमात्र है। वह नवीन ही भासती है। जिस समय जिस अवस्थाकी स्फूर्ति होती है उसी समय उसके पदार्थ, पदार्थज्ञानमें उपयोगी त्रिपुटी और अनुभूत पदार्थोंकी स्मृतिका भी स्फुरण हो जाता है। अतः प्रत्येक अवस्थाकी स्फूर्तिके समय उसमें प्रतीत होनेवाले पदार्थ, संस्कार एवं स्मृति आदि भी नवीन ही स्फुरित होते हैं।

प्र०—हमारा व्यवहार कैसा होना चाहिये ?

उ०—हमें सर्वदा गुण ही देखना चाहिये। दोष कभी किसीका नहीं देखना चाहिये। महापुरुषोंका यह स्वभाव होता है कि वे अपने विरोधीका भी गुण ही देखते हैं। बोधवान्की दृष्टिमें सारा प्रपञ्च बोधस्वरूप है। इसमें सब प्रकारके पाप-पुण्य, निन्दा-स्तुति, राग-द्वेष और दैवी एवं आसुरी प्रकृतियोंकी प्रतीति हो रही है। इसीसे क्या वह उनकी सत्ता स्वीकार कर लेता है ! सारे प्रपञ्चको मायाका विलास समझनेके कारण उसे किसी भी घटनासे कुतूहल नहीं होता।

अपि शीतरुचावर्के सुतीक्ष्णे चेन्दुमण्डले ।
अप्यधः प्रसरत्यग्नौ जीवन्मुक्तो न विस्मयी ॥*

ऐसे महात्मालोग स्वभावसे ही अत्यन्त निर्भीक होते हैं। संसारकी बड़ी-से-बड़ी आपत्ति उन्हें अपने निश्चयसे चलायमान नहीं कर सकती। और तो क्या, प्रलयकालीन विस्फोटसे भी उनके चित्तमें किसी प्रकारका क्षोभ नहीं होता।

---

* यदि सूर्य शीतल किरणोंवाला हो जाय, चन्द्रमा तेजीसे तपने लगे और अग्नि नीचेकी ओर फैलने लगे तो भी जीवन्मुक्त महात्माको कोई आश्चर्य नहीं होता।

प्रलयस्यापि हुङ्कारैश्चलाचलविचालकैः ।
विक्षोभं नैति यस्यात्मा स महात्मेति कथ्यते ॥*

वे उदारताकी तो मूर्ति ही होते हैं। उनके लिये कोई भी पदार्थ अदेय नहीं होता। वे अपने विरोधीका भी उपकार ही करते हैं और जो मान चाहते हैं उन्हें सम्मान प्रदान करनेमें भी किसी प्रकारका संकोच नहीं करते। एक वार एक दिग्विजयी विद्वान् भारतके भिन्न-भिन्न नगरोंमें अनेकों पण्डितोंको परास्त करता काशीमें आया। उस समय काशीमें एक महात्मा सबसे बड़े विद्वान् समझे जाते थे। उनके सहस्रों शिष्य थे। दिग्विजयीने उनके पास जाकर कहा कि यदि आप मुझे पराजयपत्र लिखकर दे दें तो मैं अनायास ही महान् कीर्तिमान् हो सकता हूँ। महात्माजीने विना किसी प्रकारकी आपत्ति किये उसे पराजयपत्र लिखकर दे दिया। तब वह दिग्विजयी अपनी विजय घोषित करता बड़ी धूमधामसे वाजे-गाजेके साथ काशीके राजमार्गसे निकला। इसी समय उसे उन महात्माजीके कुछ शिष्य मिले। उन्होंने सारा समाचार जानकर उसे शास्त्रार्थके लिये आमन्त्रित किया, और थोड़ी ही देरमें उसे एक शिष्यने पराजित कर दिया। इससे उसका बड़ा तिरस्कार हुआ और उसे वहीं अपनी सवारी छोड़नी पड़ी। जब महात्माजीको यह समाचार विदित हुआ तो उन्होंने उस शिष्यकी प्रवृत्तिपर खेद प्रकट करते हुए यह कहकर कि 'इस प्रकारके वेदान्तश्रवणसे क्या लाभ है?' आजन्म मौन धारण कर लिया।

---

* चराचरको विचलित कर देनेवाले प्रलयकालीन विस्फोटके होनेपर भी जिसका चित्त क्षुब्ध नहीं होता वह 'महात्मा' कहा जाता है।

महात्माओंके चरित्र ऐसे ही विलक्षण हुआ करते हैं। वे स्वयं किसीकी निन्दा नहीं करते और यदि उनके सामने कोई व्यक्ति किसी अन्य पुरुषकी निन्दा करता है तो भी वे उसके गुणोंपर ही दृष्टि देते हैं। एक बार किसी पुरुषने एक महात्माको कोई सड़ा हुआ कुत्ता दिखाकर कहा—'देखिये यह कैसा मलिन जीव है! कितनी दुर्गन्ध कर रहा है!' महात्माजीने कहा—'अहा! इसके दाँत कैसे उज्ज्वल हैं? यह इसके पुण्यकर्मोंका ही फल है!' इस प्रकार उन महात्माजीने एक सड़े हुए मरे कुत्तेके भी गुणोंपर ही ध्यान दिया। एक बार सुकरातने कहा था—'जानते हो, भगवान्‌ने कान दो और जिह्वा एक क्यों दी है? इससे भगवान्‌का यही अभिप्राय है कि सुनो बहुत और बोलो कम।'

अतः हमें भी ऐसे महापुरुषोंके आचरणोंका ही अनुकरण करना चाहिये और निन्दा-स्तुति, हानि-लाभ एवं मानापमानकी ओर दृष्टि न देकर सब प्राणियोंके साथ सहृदयता, प्रेम और उदारताका बर्ताव करना चाहिये। यदि कोई क्रोध करे तो उसके प्रति क्रोध न करना चाहिये, कोई कटुभाषण करे तो मृदुभाषण करना चाहिये, सब प्रकारके अपवादोंको सहन करना चाहिये और कभी किसीका तिरस्कार न करना चाहिये—

क्रुध्यन्तं न प्रतिक्रुध्येदाक्रुष्टः कुशलं वदेत्।
अतिवादांस्तितिक्षेत नावमन्येत कञ्चन॥*

---

* मनुष्यको चाहिये कि क्रोध करनेवालेके प्रति क्रोध न करे, यदि कोई बुरा कहे तो उससे प्रिय भाषण करे। निन्दाको सहन करे और किसीका अपमान न करे।

सुनै न काहूकी कही, कहै न अपनी बात ।
नारायन वा रूपमें मगन रहै दिन रात ॥

इस प्रकार जो निरन्तर भगवत्स्मरणमें तत्पर है, सब प्रकारके कार्य करते हुए भी जिसकी मनोवृत्ति भगवत्सुखास्वादनमें ही लगी रहती है, उस प्रशान्तात्मा महात्माके लिये संसारमें कुछ भी दुर्लभ नहीं है ।

यस्य चित्तं निर्विषयं हृदयं यस्य शीतलम् ।
तस्य मित्रं जगत्सर्वं तस्य मुक्तिः करस्थिता ॥*

प्रकृतिकी आदिम उच्छृङ्खल अवस्था और नरकका गम्भीरतम हाहाकार चाहे क्यों न हो, चाहे प्रलय हो रहा हो, समुद्र सूख रहा हो, पहाड़ टूक-टूक हो रहे हों, विश्वकी प्रत्येक चीजोंमें अपने नाशके लिये घोर संग्राम क्यों न छिड़ा हो, आत्मदर्शीके चित्तमें किसी प्रकारका विकार उत्पन्न नहीं होता ।

जो किसी पदार्थकी इच्छा नहीं करता, किसी प्रकारकी सामर्थ्य नहीं चाहता, और कोई बात जानना नहीं चाहता वही ज्ञानी है । ज्ञानीमें इन तीनों प्रकारकी इच्छाओंका अभाव होता है परन्तु यह है स्वसंवेद्य, इसे कोई दूसरा नहीं जान सकता ।

* जिसका चित्त विषयशून्य है और हृदय शान्त है उसका सारा संसार मित्र है तथा मुक्ति भी उसकी मुट्ठीमें है ।

ज्ञान और भक्ति

प्र०—वेदान्तचर्चा विशेष लाभप्रद है या भगवच्चर्चा ?

उ०—अत्यन्त वैराग्ययुक्त तर्कप्रधान पुरुषोंके लिये वेदान्त-विचार विशेष लाभप्रद है और हृदयप्रधान पुरुषोंके लिये भगवच्चर्चा विशेष लाभप्रद है। भक्तोंके लिये वेदान्तचर्चा विघ्नरूप है, किन्तु वेदान्तियोंके लिये भगवच्चर्चा विघ्नरूप नहीं है। जिस स्थानमें वेदान्तकी चर्चा होती हो, भक्त वहाँसे उठकर चला जाय। मुझे ऐसा अनुभव हो चुका है इसीलिये मैं ऐसा कहता हूँ। शास्त्रोंमें इस सम्बन्धमें क्या लिखा है, उसका मुझे पता नहीं है।

प्र०—क्या भक्तोंपर भी प्रारब्धका प्रभाव रहता है ?

उ०—भक्तोंके लिये प्रारब्ध कर्म रहता ही नहीं, वह तो ज्ञानियोंके लिये है; जिनका भगवान्‌से सम्बन्ध हो गया, उनके लिये प्रारब्ध नहीं रहता।

प्र०—तत्त्वज्ञान और भगवद्दर्शन—इन दोनोंमें कौन श्रेष्ठ है ?

उ०—तत्त्वज्ञानमें केवल शुद्ध ब्रह्म रहता है, उसमें भक्त और भगवान्‌का अत्यन्ताभाव है। इसलिये मुमुक्षुके लिये तत्त्वज्ञान श्रेष्ठ है, क्योंकि वह निर्वाणपद है। और भक्तके लिये भगवद्दर्शन श्रेष्ठ है, क्योंकि उसमें भक्त और भगवान् दोनों रहते हैं—यह प्रेमपथ है, इन दोनोंमें भगवद्दर्शन ही अधिक उपादेय और विशेष हितकर है।

प्र०—तत्त्वज्ञान होनेके बाद भगवद्दर्शन हो सकते हैं या नहीं?

उ०—हो सकते हैं। जबतक प्रारब्ध रहता है तबतक प्रारब्धजन्य इच्छा भी रहती है। ज्ञानीको जो भगवद्दर्शनकी इच्छा होगी वह उसके लिये प्रारब्धजन्य मानी जायगी। निष्काम कर्म या निष्काम भक्तिके बिना तो ज्ञानप्राप्ति हो नहीं सकती, यह शास्त्रोंका सिद्धान्त है और निष्काम भक्तिमें जो भगवद्ध्यानादि किया जाता है वह सकाम न होनेपर भी उसमें भगवद्दर्शनकी कामना छिपी रहती है। उसकी इच्छा निर्वाणपद या मोक्षप्राप्तिकी होनेसे उसे पहले ज्ञान हो जाता है। तथा ज्ञान होनेके बाद जो भगवद्दर्शनकी इच्छा है उसे तो प्रारब्धजनित ही मानना पड़ेगा, नहीं तो ज्ञान होनेमें शङ्का होगी।

प्र०—भगवद्दर्शन होते ही तत्त्वज्ञान हो जाता है या कालान्तरमें? अर्थात् उसे उसके जीवनकालमें ही ज्ञान होता है या मृत्युके पश्चात्? अथवा उसको तत्त्वज्ञान होता ही नहीं है?

उ०—तत्त्वज्ञान भगवद्दर्शनके साथ भी हो सकता है और कालान्तरमें भी। दर्शनके बाद यदि ज्ञानकी इच्छा करे तो ज्ञान हो सकता है, परन्तु जो भगवत्प्रेममें मस्त है वह तो ज्ञान चाहता नहीं, फिर बिना चाहके ज्ञान कैसे होगा? तत्त्वज्ञानकी तरह दर्शन होनेके बाद भी काम-क्रोधादिका लेश नहीं रहता, क्योंकि उसे तो सब भगवद्रूप या भगवल्लीला ही दीखेगी। फिर वह किससे कैसे और क्यों द्वेष करेगा? देखो, मित्रका पत्र मिलनेपर उस पत्रसे तथा इसी प्रकार मित्रके वस्त्र और उसके कुत्तेसे भी प्रेम

होने लगता है, तब जो भगवत्प्रेमी है, उसका भगवान्‌में कैसा प्रेम होगा, इसका अनुमान सहज ही हो सकता है।

प्र०—ज्ञान और भक्तिके अधिकारी, साधन और फलका पृथक्-पृथक् वर्णन कीजिये।

उ०—तीन प्रकारके अधिकारी हुआ करते हैं—(१) विषयी, (२) उपासक और (३) जिज्ञासु। विषयी उन्हें कहते हैं जो शास्त्रानुसार ऐहिक और पारलौकिक भोगोंकी इच्छा करते हैं; उन्हें न तो ज्ञानकी इच्छा होती है और न भक्तिकी। उनका तो चरम लक्ष्य स्वर्ग ही होता है। दूसरे अधिकारी भगवान्‌के सगुण या निर्गुण रूपमें प्रेम रखते हैं। किन्तु जिसकी प्रवृत्ति भगवत्प्रेममें न होकर भगवत्तत्त्वको जाननेकी ओर होती है उसे जिज्ञासु कहते हैं। भक्तको अपना और भगवान्‌का भेद, भक्तिके साधन, भक्तिके स्वरूप, भक्तिके फल और भक्तिके विघ्नोंका ज्ञान होना चाहिये। तथा जिज्ञासु वह होता है जिसे अपने, भगवान्‌के और संसारके स्वरूपको जाननेकी इच्छा रहती है। भक्तोंको यथाशक्ति निरन्तर भगवदाकार वृत्ति करते रहना चाहिये। इसके लिये उन्हें भगवत्स्मरण, भगवद्‌गुणानुवाद, भगवत्सेवा, भगवद्ध्यान और भक्तोंका संग करते रहना चाहिये। प्रेमयोगिनी व्रजांगनाओंकी दशाका वर्णन करते हुए श्रीमद्भागवतमें कहा है—

> तन्मनस्कास्तदालापास्तद्विचेष्टास्तदात्मिकाः।
> तद्‌गुणानेव गायन्त्यो नात्मागाराणि सस्मरुः॥

अर्थात् 'गोपांगनाओंके चित्त भगवान्‌में ही लगे रहते थे, वे

उन्हींकी चर्चा करती रहती थीं, उन्हींके लिये उनकी सारी चेष्टाएँ थीं; इस प्रकार वे भगवन्मयी हो रही थीं तथा उनका गुणगान करते हुए उन्हें अपने घरोंकी भी सुधि नहीं रहती थी।' यह तो भक्तोंके साधनोंकी बात हुई। जिज्ञासुको साधनचतुष्टयसम्पन्न होकर गुरुकी शरणमें जा विधिपूर्वक वेदान्तका श्रवण, मनन और निदिध्यासन करना चाहिये। उसके लिये ये ही साधन हैं। भक्तिका फल भगवत्प्रेम है और ज्ञानका फल दुःखोंकी आत्यन्तिक निवृत्तिपूर्वक परमानन्दकी प्राप्ति।

प्र०—भक्ति ज्ञानका हेतु है या ज्ञान भक्तिका हेतु है?

उ०—अविद्यासे मुक्त होना ज्ञान है। उस ज्ञानमें भक्ति ही हेतु है। भक्त जो यह कहता है कि मेरा प्रेष्ठ पूर्ण है, वह उसकी श्रद्धा है। ज्ञानी ब्रह्मके जितने लक्षण बतलाता है उन सबकी भावना भक्त अपने इष्टदेवमें करता है। वह समझता है कि मेरा प्रियतम विभु है, अनन्त है, सर्वसमर्थ है और निरतिशय है। इससे उसे स्वयं ही बोध हो जायगा। भक्ति ज्ञानका स्वतन्त्र साधन है; जिज्ञासापूर्वक की हुई भगवद्भक्ति स्वयं ही ज्ञान उत्पन्न कर देती है। ऐसे भक्तको ज्ञानप्राप्तिके लिये सांख्यसम्मत विवेक करनेकी आवश्यकता नहीं होती।

भक्ति दो प्रकारकी है—साधनरूपा और प्रेमलक्षणा। जिज्ञासापूर्वक की हुई साधनभक्ति ही ज्ञानकी जननी है। किन्तु प्रेमलक्षणा भक्ति तो स्वतः फलस्वरूपा ही है। ऐसा प्रेमी ज्ञानकी भी इच्छा नहीं किया करता। ब्रह्मके जितने लक्षण शास्त्रोंमें

वतलाये गये हैं उन सभीकी भावना वह अपने प्रियतममें करता है। प्रेममें कभी पूर्णता नहीं होती; प्रेमी सर्वदा अपने प्रियतमकी यादमें छटपटाया करता है। प्रेमीके वाह्य लक्षणोंका वर्णन करते हुए किसी फ़ारसी कविने कहा है—

आहे सर्दो रंगे ज़र्दो चश्मे तर। इन्तज़ारी वेक़रारी वेसवर।
कमगुफ़्तनो कमख़ुर्दनो ख़्वावे हराम।
आशिक़ाराँ नौ निशाँ वाशद पिसर॥*

किन्तु ज्ञानमें पूर्णता है, कृतकृत्यता है, और निश्चल शान्ति है।

प्र०—अनेक महानुभाओंका मत है कि भगवान्‌का भक्त अज्ञानी नहीं रह सकता। श्रीभगवान्‌ने भी कहा है—

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि वुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥†

फिर भक्तोंमें ऐसी अपूर्णता क्यों देखी जाती है?

उ०—जिस प्रकार ज्ञानीका स्वभाव माना जाता है उसी प्रकार यह भक्तका स्वभाव है। इससे यह नहीं समझना चाहिये कि भक्त अज्ञानी रहता है। हनुमान्‌जी, नारदजी, सनत्कुमारजी,

* ठंडी आहें, पीला रंग, सजल नयन, प्रतीक्षा, बेचैनी, अतृप्ति, मितभाषण, मिताहार और नींद न आना—हे पुत्र! ये प्रेमियोंके नौ चिह्न हैं।

† मेरा निरन्तर चिन्तन करनेवाले और प्रीतिपूर्वक मेरा ही भजन करनेवाले उन भक्तोंको मैं बुद्धियोग देता हूँ, जिससे वे मुझे प्राप्त हो जाते हैं।

शुकदेवजी और गोपीजन—ये सब भगवान्‌के अनन्य भक्त थे, किन्तु क्या वे अज्ञानी थे। वे सभी पूर्ण बोधवान् थे, उनकी भक्तवत् चेष्टा तो उनका स्वभाव था।

प्र०—ज्ञानी और भक्तके सिद्धान्तोंमें क्या अन्तर है?

उ०—ज्ञानीकी दृष्टिमें परमार्थवस्तुके साथ मायाका कोई सम्बन्ध नहीं है और भक्तकी दृष्टिमें प्रपञ्चसहित भगवान् परमार्थ हैं। सुवर्णमें जो कुण्डलादिका अत्यन्ताभाव देखना है वह ज्ञानीकी दृष्टि है तथा सुवर्णको कुण्डलादिसहित देखना भक्तिसिद्धान्त है।

प्र०—प्रेमी और विवेकीमें क्या अन्तर है?

उ०—प्रेमीको स्वयं त्याग होता है और विवेकीको त्याग करना पड़ता है। प्रेमीसे विषयोंका चिन्तन होता ही नहीं, विवेकी विषयमें दोषदृष्टि करता है। नारायण स्वामी कहते हैं—

> विधिनिषेध श्रुति वेदकी मेंड देत सब मेट।
> नारायण जाके हिये लागत प्रेम चपेट॥
> नेम धरम धीरज समझ, सोच विचार अनेक।
> नारायण प्रेमी निकट इनमें रहैं न एक॥

प्र०—ज्ञानी बड़ा है या प्रेमी?

उ०—पहले हम किसी व्यक्तिसे मिलते हैं तो उस व्यक्तिसे ज्ञान होता है। फिर उससे बार-बार मिलनेसे प्रेम होता है। इससे सिद्ध हुआ कि पहले ज्ञान पीछे प्रेम। अतः प्रेम बड़ा हुआ। और जो ज्ञानी लोग कहते हैं कि चौथी भूमिकापर ज्ञान होता है।

पञ्चम भूमिका छठी भूमिकाका जो ज्ञान है वह जीवन्मुक्तिके आनन्दके लिये है। वे उसे जीवन्मुक्तिका आनन्द कहते हैं, हम प्रेम कहते हैं। इससे भी प्रेम बड़ा है।

जो फल ज्ञानीको होता है वही फल भक्तको होता है। क्योंकि ज्ञानीको ज्ञान होनेपर सच्चिदानन्दके अतिरिक्त कुछ नहीं। और भक्तको भी प्रेम-प्राप्ति होनेपर सच्चिदानन्दके अतिरिक्त कुछ नहीं। किन्तु साधन अलग-अलग हैं।

ज्ञानी और भक्त तीन प्रकारके होते हैं—१ सत्त्वगुणी, २ रजोगुणी और ३ तामसी। जो आत्मरति और भगवत्प्रेममें लगे हुए हैं वे सत्त्वगुणी हैं; जो सिद्धियोंमें लग जाते हैं वे रजोगुणी हैं और जो अकर्मण्य हैं वे तमोगुणी हैं।

वह ज्ञानी नहीं, जो भक्तिको तुच्छ समझता है।

भक्त मोक्ष नहीं चाहता और यदि मोक्ष चाहता है, तो वह भक्त नहीं; क्योंकि मोक्ष चाहनेवाला भक्तिसे मुक्त होना चाहता है। भक्त तो केवल एक प्रेम चाहता है।

नारदादि महान् तत्त्ववेत्ता थे, लेकिन फिर भी श्रीभगवत्-गुण-गान करते थे। आजकल लोग कुछ नहीं करते-धरते।

मनुष्य नदीको दो प्रकारसे पार कर सकता है, तैरकर और नावमें बैठकर। इस भवसागरसे पार होनेमें भक्ति और ज्ञान दो साधन हैं। ज्ञानी तैरकर जाता है; उसके लिये यह डर रहता है कि

कहीं बीचमें ही डूब न जावे अथवा मच्छी आदि न खा जायँ। भक्तको डूबनेका डर नहीं, क्योंकि वह नौकासे पार होता है। उस नौकाको श्रीसद्‌गुरु भगवान् चला रहे हैं। जो लोग कहते हैं भक्तिमार्गसे कुछ नहीं होगा, वे गलत कहते हैं।

भक्त वही हो सकता है जिसको इस लोक, परलोक और देहादिसे वैराग्य हो और भगवत्-धर्म, भगवत्-स्वरूप, भगवत्-सेवा और भगवद्भक्तोंसे राग हो। भक्ति कालान्तरमें प्रेमरूपमें परिणत हो जाती है।

ज्ञानी वही हो सकता है जिसका इस लोकसे वैराग्य, परलोकसे वैराग्य, देहसे वैराग्य और भगवदीय ऐश्वर्यसे भी वैराग्य हो, ऐसा पुरुष ही ज्ञानमार्गका अधिकारी है। आजकलके कलियुगी जीव जिन्हें वे ही पूज्य हैं इसके अधिकारी नहीं हैं।

कर्मी वही हो सकता है जिसको इस लोकसे वैराग्य हो और परलोकसे राग हो।

जो भगवत्प्राप्ति अथवा ज्ञानके लिये फलासक्तिसे रहित होकर कर्म करता है, वही निष्काम कर्मी है।

पशुकी तरह केवल विषयभोग ही जिनका इष्ट है और जो विषयप्राप्तिकी इच्छासे भी भगवद्भजन नहीं करते वे ही विषयी हैं।

परमार्थनिरूपण

प्र०—शुद्ध साक्षी किसे कहते हैं ?

उ०—जो स्वप्नको देखता है उसे स्वप्नपुरुष कहते हैं, जो स्वप्नसे जाग पड़नेपर उसे प्रतीतिमात्र अनुभव करता है उसका नाम जाग्रत्पुरुष है और जो जाग्रत्पुरुषके सहित इस सम्पूर्ण जाग्रत्को अनुभव करता है उसे जाग्रद्द्रष्टा कहते हैं। उसीका नाम स्वप्नद्रष्टा भी है और वही शुद्ध साक्षी है, क्योंकि वह सम्पूर्ण स्वप्न और सम्पूर्ण जाग्रत्का साक्षी है। स्वप्नपुरुष और जाग्रतपुरुष केवल स्वप्नशरीर और जाग्रच्छरीरके ही साक्षी हैं, इसलिये वे व्यष्टिसाक्षी हैं; किन्तु यह समष्टिसाक्षी है, क्योंकि यह समस्त स्वप्नावस्था और समस्त जाग्रदवस्थाको प्रकाशित करता है। जिस प्रकार वस्त्रके ऊपर बनाये हुए बेल-बूटे वस्त्रसे भिन्न नहीं होते तथा मूर्ति पाषाणसे भिन्न नहीं होती उसी प्रकार यह चराचर जगत् आत्मासे भिन्न नहीं है।

प्र०—जीव ब्रह्म है, इसमें क्या प्रमाण है ?

उ०—जीव ब्रह्म नहीं है, जीव साक्षी ब्रह्म है। इसमें शास्त्र, अनुभव और युक्ति सभी प्रमाण हैं। इसका अनुभव करनेके लिये विचार (सदसद्विवेक) करना चाहिये।

प्र०—'पादोऽस्य सर्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि' इस मन्त्रके 'त्रिपाद' शब्दसे क्या अभिप्राय है ?

उ०—मुझसे एक महात्माने कहा था कि सत्, चित् और

आनन्द, ये त्रिपाद हैं तथा प्रपञ्च एक पाद है। सत्की प्रतीति तो सभीको होती है, चित् विवेकीको प्रतीत होता है और आनन्द पूर्ण बोधवान्को प्रतीत होता है। जिसे सत्, चित्, आनन्द— इन तीनों पादोंका ज्ञान हो जाता है वही पूर्ण बोधवान् है और उसीकी आत्यन्तिक दुःखनिवृत्ति होती है।

प्र०—प्रपञ्चका अत्यन्ताभाव पक्ष है या सिद्धान्त?

उ०—स्वरूपसत्तामें पहले अभावसत्ता और फिर भावसत्ताकी स्फूर्ति होती है। परन्तु जिस प्रकार घटाभाव और घट दोनों ही मृत्तिकारूप हैं उसी प्रकार प्रपञ्च और प्रपञ्चाभाव दोनों ही आत्मसत्तासे भिन्न नहीं हैं। तथापि जिज्ञासुको वस्तुका लक्ष्य कराने और उसके कर्तृत्वका निरास करनेके लिये प्रपञ्चका अत्यन्ताभाव निरूपण किया जाता है। प्रपञ्चके अत्यन्ताभावमें दृष्टि रखना ही जीवन्मुक्तिका अभ्यास है। परन्तु यह वस्तुस्थिति नहीं है। यह भी एक पक्ष ही है। वस्तुतः तो भाव और अभाव दोनों ही आत्मासे भिन्न नहीं हैं; क्योंकि आत्मा प्रपञ्चका अभिन्ननिमित्तोपादान-कारण है।

प्र०—यदि मुक्त होनेके पश्चात् पुनर्जन्म नहीं होता तो एक-एक जीवके मुक्त होते रहनेसे अन्तमें एक दिन समस्त संसारका उच्छेद हो जायगा। किन्तु सृष्टिको अनादि और अनन्त माना है। ऐसी अवस्थामें इन दोनों मतोंकी संगति कैसे लगेगी?

उ०—सांख्य, योग अथवा वेदान्त, इनमेंसे किसी दर्शनने भी मोक्षसे पुनरावर्तन स्वीकार नहीं किया। इसका कारण यह है कि

उस अवस्थामें जन्म-मरणरूप संसारका अत्यन्ताभाव हो जाता है। अतः जीवभावकी निवृत्ति हो जानेके कारण उस समय पुनर्जन्मादिका कोई प्रश्न ही नहीं रह जाता। बोधवान्की दृष्टिमें जीव एक है। यह निखिल प्रपञ्च उस एकका ही दृष्टिविलास है। अतः उसके मुक्त हो जानेपर उसके लिये तो सृष्टिका अत्यन्ताभाव ही हो जाता है। किन्तु अज्ञानीकी दृष्टिमें जीव अनन्त हैं और अनन्त होनेके कारण ही उनका कभी अन्त नहीं हो सकता। वे सृष्टिको प्रवाहसे अनादि और अनन्त मानते हैं। इसलिये उनके सिद्धान्तानुसार यदि एक कल्पके अन्तमें सृष्टिका अन्त हो जाता है तो दूसरा कल्प आरम्भ होनेपर उसकी पुनः उत्पत्ति हो जायगी।

प्र०—अज्ञान भावरूप है या अभावरूप ?

उ०—यह न भावरूप है और न अभावरूप, बल्कि अनिर्वचनीय है। अज्ञान स्वरूपके आवरणको कहते हैं। यह तो भाव और अभावका कारण है।

प्र०—माया और प्रकृतिमें क्या अन्तर है ?

उ०—सांख्यसम्मत प्रकृति और वेदान्तकी मायामें जो अन्तर है उसे इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है कि सांख्य प्रकृतिकी स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार करता है, भक्त उसे भगवान्की अभिन्न शक्ति मानता है और वेदान्ती उसे भ्रान्ति समझता है। भक्तकी दृष्टिमें भगवान् और भगवद्विग्रहमें कोई भेद नहीं है, ये दोनों ही चिन्मय हैं।

ध्यानकी बात

प्र०—वर्तमानकालमें किस योगका आश्रय लेना चाहिये ?

उ०—पहले मैंने आसाम और भूटान आदि प्रान्तोंमें हठयोगियोंकी बहुत खोज की थी। मुझे जिस किसी प्रसिद्ध हठयोगीका पता लगता उसीके पास जाता और उसकी सेवा कर उसके अनुभवका पता लगानेका प्रयत्न करता। मैंने ऐसे कई हठयोगी देखे हैं जिन्हें तीन-तीन चार-चार घंटेकी समाधि होती थी। परन्तु उनकी वास्तविक स्थितिका पता लगानेपर यही विदित हुआ कि उनमेंसे किसीको भी निर्विकल्प समाधि सिद्ध नहीं हुई। हाँ, सविकल्प समाधिमें उनकी स्थिति अवश्य थी। इसके सिवा, मैंने प्रायः सभी हठयोगियोंको रोगी भी पाया। हठयोगका मुख्य लक्ष्य वीर्यकी पुष्टि है; परन्तु मैंने अधिकांश हठयोगियोंको वीर्यसम्बन्धी रोगोंसे भी ग्रस्त पाया है। किसीको मूत्रकृच्छ्र, किसीको स्वप्नदोष और किसीको किसी अन्य रोगके चंगुलमें फँसे देखा है। इससे मेरी यह दृढ़ धारणा हो गयी है कि वर्तमानकाल हठयोगके अनुकूल नहीं है; इस समय हठयोगद्वारा पूर्णता प्राप्त करना प्रायः सर्वथा असम्भव है।

इसका यह अभिप्राय नहीं है कि हठयोगका मार्ग ही भ्रमपूर्ण है और उससे किसी भी समय पूर्णता प्राप्त नहीं होती थी। इस समय इसका जो विपरीत परिणाम होता है उसके मुख्य कारण ये हैं—

१—हठयोगीका वीर्य शुद्ध होना चाहिये और इसका इस समय प्रायः सर्वथा अभाव है।

२—हठयोगका अभ्यास सहन करनेयोग्य बल प्रायः नहीं देखा जाता।

३—सिद्ध हठयोगी गुरुका मिलना भी अत्यन्त दुर्घट है।

इसके सिवा ध्यान और वैराग्यकी कमी होनेके कारण आधुनिक हठयोगी प्रायः अर्थलोलुप और चञ्चल प्रकृतिके देखे जाते हैं। उनके जालमें फँसकर मैंने बहुत-से साधकोंके जीवन नष्ट होते देखे हैं। इसलिये मेरा विचार है कि अपने कल्याणकी इच्छावालोंको इस ओर प्रवृत्त नहीं होना चाहिये।

इस प्रकार बहुत-से हठयोगियोंसे निराश होनेपर मुझे एक ऐसे महात्मा मिले जिन्हें ध्यानयोगद्वारा निर्विकल्प समाधि सिद्ध थी। उनके संसर्गसे मुझे यह अनुभव हुआ कि सिद्धासन और शाम्भवी मुद्राके* द्वारा पूर्ण स्थिति प्राप्त की जा सकती है। यह

---

* शाम्भवी मुद्राका लक्षण इस प्रकार है—

अन्तर्लक्ष्यबहिर्दृष्टिर्निमेषोन्मेषवर्जिता।
सा भवेच्छाम्भवी मुद्रा सर्वतन्त्रेषु गोपिता॥

'जिसमें चित्तका लक्ष्य अन्तर्मुख (ध्येयाकार) रहता है और दृष्टि बाहरकी ओर रहती है अर्थात् नेत्र खुले रहते हैं, किन्तु कोई बाह्य पदार्थ दिखायी नहीं देता तथा पलकोंका खुलना और बन्द होना भी नहीं होता, वह सम्पूर्ण शास्त्रोंमें छिपी हुई 'शाम्भवी मुद्रा' कहलाती है।'

इसका अभ्यास करनेके लिये उन श्रीमहाराजने इस श्लोकद्वारा उपदेश दिया—

मार्ग सर्वथा सरल और निरापद है। इसके सिवा भगवद्भजन, नाम-संकीर्तन और जपके द्वारा भी भावसमाधि प्राप्त होती देखी गयी है। यह मार्ग सर्वसाधारणके लिये बहुत उपयोगी है। परन्तु ऐसे भावुक साधकोंमें भी विचारकी कमी होनेके कारण प्रायः आन्तरिक क्रोध और लोभादि दोष देखे गये हैं। इसलिये इस मार्गका अनुसरण करनेवालोंको भी विचारकी बहुत आवश्यकता है; तभी वे भगवद्भक्तिसे पूरा लाभ उठा सकेंगे।

प्र०—हठसमाधि और ध्यानसमाधिमें क्या अन्तर है?

उ०—हठसमाधि प्राणकी कसरतमात्र है। उसमें निर्विकल्पावस्था नहीं रहती और न उससे शान्ति, दान्ति आदि गुण ही प्राप्त होते हैं। समाधिसे उत्थित होनेपर वह योगी एक साधारण पुरुषके समान रहता है। किन्तु ध्यानसमाधिमें चित्त संकल्पशून्य हो जाता है और उससे उत्थान होनेपर भी वह दिव्यगुणसम्पन्न देखा जाता है। दीर्घकालीन हठसमाधिकी अपेक्षा भी क्षणभरकी ध्यानसमाधिका महत्त्व सैकड़ों गुना बढ़कर है।

प्र०—योगी और ज्ञानीकी निर्विकल्पावस्थामें क्या अन्तर है?

उ०—योगी सृष्टिदृष्टिवादी है। समाधिमें भी उसकी सृष्टि बनी ही रहती है, वह केवल उससे अपनी दृष्टि (चित्तवृत्ति)

तिर्यग्दृष्टिमधोदृष्टिं विहाय च महामतिः।
स्थिरस्थायी च निष्कम्पो योगमेव समभ्यसेत्॥

'मतिमान् साधकको इधर-उधर और ऊपर-नीचे देखना छोड़कर निश्चलभावसे स्थिरतापूर्वक स्थित होकर योगका अभ्यास करना चाहिये।'

हटा लेता है। किन्तु ज्ञानी दृष्टिसृष्टिवादी होता है; उसकी दृष्टि ही सृष्टि है तथा उसकी दृष्टिकी निवृत्ति सम्पूर्ण प्रपञ्चकी निवृत्ति है। योगीकी दृष्टिमें आत्मभेद, प्रकृतिकी सत्ता और ईश्वरकी अन्यता है तथा ज्ञानी स्वयं ही सर्वरूप है। समाधि-अवस्थामें प्रपञ्चकी अप्रतीति तो दोनोंको ही होती है, किन्तु यह अप्रतीति ही कल्याणका हेतु नहीं है। यदि इसीसे कल्याण होता तो सुषुप्तिमें तो सभीको प्रपञ्चाभावका अनुभव होता है; उस समय सभीको मुक्त हो जाना चाहिये था। किन्तु ऐसा नहीं होता। अतः आत्यन्तिक निःश्रेयसका कारण तो ब्रह्मात्मैक्यबोध ही है।

प्र०—भावसमाधि और ध्यानसमाधिमें क्या अन्तर है?

उ०—भावसमाधि साधनसाध्य नहीं है, वह परतन्त्र है। जिनका हृदय कोमल है उन्हें उद्दीपनविभावकी सन्निधिमें स्वतः ही उसकी प्राप्ति हो जाती है। किन्तु इससे लौकिक वासनाएँ निर्मूल नहीं होतीं और न पूर्ण निर्विकल्पता ही होती है। किन्तु ध्यानसमाधि अभ्याससाध्य है। यह उन्हींको प्राप्त हो सकती है जो दीर्घ कालतक निरन्तर अभ्यास करते-करते रजोगुण-तमोगुणसे सर्वथा मुक्त हो गये हैं।

प्र०—ध्यानसमाधिका प्रथम किस प्रकार अभ्यास करना चाहिये?

उ०—भूत और भविष्यके चिन्तनको छोड़कर एकान्त स्थानमें भगवत्स्वरूपका चिन्तन एकासनसे कम-से-कम दो घण्टा बैठकर नित्यप्रति नियमितरूपसे करे। भगवत्स्वरूपकी क्षण-क्षण स्मृति होती है उसे तो स्मरण कहते हैं और वह स्मृति अधिक देर

ठहरनेको ही ध्यान कहते हैं। जैसे-जैसे भगवान्‌में आसक्ति होती जायगी वैसे-वैसे वृत्ति ठहरती जायगी। जपका नियम पहले बताया गया है उसी प्रकार करे। जप करते हुए ध्यान किया जाता है उसमें जप मुख्य है। और ध्यानकालमें केवल स्वरूपका ही चिन्तन करे। जहाँ जप और चिन्तन दोनों होगा वहाँ जप मुख्य रहेगा और चिन्तन गौण रहेगा। जिससे चिन्तन न हो सके उसे जप या स्तोत्रपाठ करना चाहिये। स्तोत्रपाठसे जप अधिक लाभप्रद है।

प्र०—साकार भगवान्‌के दर्शनके लिये क्या साधन करना चाहिये ?

उ०—मेरे विश्वासके अनुसार गाढ़ ध्यान हुए विना भगवद्दर्शन नहीं हो सकता।

प्र०—क्या हठयोग ही मनके निग्रहका साधन है ?

उ०—लययोग, मन्त्रयोग, हठयोग सभीसे मनका निग्रह हो सकता है। किसी एकको पकड़ना चाहिये। जैसे इलाहाबादके कई रास्ते हैं लेकिन एकको पकड़ना चाहिये।

× × × ×

स्थिरसुखमासनम्—इस सूत्रके अनुसार स्थिर आसन रखकर ध्यान करना चाहिये। चेतनत्वकी भावनापूर्वक इष्टका ध्यान दस मिनट प्रतिदिन करनेसे अभ्यासका फल प्रतीत होगा, तीस मिनटके अभ्याससे विशेष अवस्था प्रतीत होगी और एक घण्टे

पैंतीस मिनटके अटूट ध्यानसे देहाध्यासकी निवृत्ति यानी समाधि हो जायगी, यही परम योग है।

एक घण्टे ध्यानके अभ्याससे ध्येय ही सर्वत्र दीखेगा।

ध्यानसे ज्ञान होता है; ध्यान बिना ज्ञान रह ही नहीं सकता।

कम-से-कम दस मिनट तो ध्यान प्रतिदिन करना ही चाहिये। इससे एकाग्रता बढ़कर शनैः-शनैः तद्रूपता हो जायगी। एकाग्रता या संयम ही मुख्य है।

चिन्तन-स्मरणसे सब कुछ हो जायगा, चिन्तनका अभ्यास जितना बढ़ेगा, उतनी ही संसारसे विरक्ति और भगवत्-प्रेमकी प्राप्ति होगी।

मनोराज्य केवल पूर्ण भगवत्-सम्बन्धी ही होना चाहिये। अर्थात् मनको प्रभुके लीला-ध्यानरूपमें ही पूर्णरूपसे लगाना चाहिये।

विवेक और वैराग्यसे मनुष्यकी विषयाभिलाषा जाती रहती है, किन्तु उसकी वासना निर्मूल नहीं होती। विषयकी सन्निधिमें वह सर्वथा निर्विकार नहीं रह सकता। ऐसा तभी होता है जब कि उसी विषयमें संयम (धारणा, ध्यान और समाधि) करते हुए त्रिपुटीका लय हो जाय। इससे विषयकी विषयता मारी जाती है और सर्वत्र सामान्य सत्ता ही प्रतीत होती है।

किसी भी विषयका ध्यान करते हुए एक बार त्रिपुटीका लय हो जानेपर, चाहे जब चाहे जिस विषयमें यह स्थिति प्राप्त की जा सकती है।

सामाजिक समस्याओंपर

प्र०—नवयुवकोंको क्या करना चाहिये ?

उ०—जबतक प्राचीन धर्मको ग्रहण न करेंगे, उसका अवलम्बन न करेंगे, तबतक शान्ति न होगी। इसलिये प्राचीन धर्मका अवलम्बन करना चाहिये। और वर्णव्यवस्थाको मिटाकर राजनैतिक काममें लगना नवयुवकोंका धर्म नहीं। न्याय और सत्यसे धन कमाओ और वर्णाश्रमधर्मको मानो।

यदि हम शास्त्रानुकूल व्यवहार करें तो दुखी नहीं हो सकते।

जो वस्तु अच्छी होती है वह कम होती है, जैसे कि सच्चे महात्मा, विद्वान् और ब्रह्मचारी—ये कम ही हैं।

भारतवर्षका नाश क्यों हुआ ? इसीलिये कि हमलोग जड-बुद्धिके अधीन हो गये हैं, रहना चाहिये था गुरु और शास्त्रके अधीन।

अधर्म ही संसारियोंका त्याज्य है और अधर्म ही मिथ्या है।

पहले लोग किसीके मर जानेपर ब्राह्मणसे गरुड़पुराण सुनते थे। ब्राह्मण पुराण सुनाते थे कि, जिससे उन्हें पापोंके करनेसे डर लगे, लेकिन बहुत-सी जगह आजकल लोग गीता, उपनिषद्की कथा कहते हैं।

अनूप शहरमें विश्वविद्यालयके कई एक विद्यार्थियोंने मेरे पास आकर मुझसे प्रश्न किया कि महाराज, पण्डितलोगोंने हमारे साथ बड़ा भारी अत्याचार किया है, क्योंकि हमें विदेशयात्रासे वञ्चित रक्खा है। वे कहते हैं कि विदेशमें जाना पाप है। मैंने उन्हें उत्तर दिया कि विदेशमें जाना इसलिये पाप बतलाया गया है कि अगर सर्वसाधारण विदेश जायँगे तो विदेशी धर्म, विदेशी वेष, विदेशी प्रेम, विदेशी आचार और विदेशी आचरण अवलम्बन करेंगे। इसलिये हमारे शास्त्रने मना किया है। इसका प्रत्यक्ष अनुभव हो रहा है। वर्तमान समयमें विदेशी संसर्गका फल यहाँतक हुआ कि छोटे-छोटे बच्चेतक भी टोप आदि लगाने लगे और सिगरेट-बीड़ी पीने लगे।

स्वदेशे स्ववेशे स्वधर्मे स्ववर्णे
जनानां प्रशस्यः प्ररूढोऽनुरागः॥

जिस व्यक्तिको अपने देशमें प्रेम हो, अपने वेशमें प्रेम हो, अपने धर्ममें प्रेम हो, अपने वर्णमें प्रेम हो, वही महान् पुरुष है। जो विदेशी आचार और विदेशी धर्मसे कभी भी प्रेम न करें, वे ही जा सकते हैं। सर्वसाधारणके लिये जाना महान् पाप है।

अन्यायोपार्जित धन विषके समान होता है। जो अन्यायसे धन कमाते हैं उनके चारों तरफ विष-ही-विष है।

तीन बातें ब्राह्मणत्वको नष्ट कर देती हैं—

त्रिभिर्नश्यति ब्रह्मत्वं हलं हलं हलाहलम्।

(१) हल जोतना, (२) पठन-पाठनमें हिलना और

(३) मादक वस्तुएँ सेवन करना इन तीनसे ब्राह्मणत्व नष्ट हो जाता है।

जो चीज भगवान्‌को भोग लग सके उनसे भिन्न और सब पदार्थ मादक हैं।

आजकलके मनुष्य सट्टा बहुत पूछते हैं। मैं एक बार हापुड़ गया था। मुझे वहाँपर तीन दिनतक भिक्षा नहीं मिली। फिर एक गृहस्थके यहाँसे कई दिनकी सूखी रोटी मिली, तब मैंने वह खायी। एक सट्टेबाज आदमी मेरे पास आकर बैठ गया और बोला महाराज, सट्टा बतला दो। मैंने कहा कि मैं तुझे यही बतलाता हूँ कि तू कभी सट्टेका काम न करना।

अपने माता-पिताकी बात माननी चाहिये, लेकिन अगर माता-पिता भगवद्भक्ति छुड़ावें या और कोई धर्मविरुद्ध बात कहें तो नहीं माननी चाहिये। जैसे कि प्रह्लादसे पिताने रामनाम छोड़नेको कहा लेकिन उसने इस बातको स्वीकार नहीं किया।

दूसरेके धनसे बुद्धि भ्रष्ट और चित्त दुष्ट हो जाता है। आजकल साधुओंकी बुद्धि मलिन क्यों होती है? अन्यायोपार्जित पराया अन्न खानेसे तथा तंबाकू, भाँग, गाँजा आदि मादक द्रव्य खाने-पीनेसे बुद्धि मलिन हो जाती है।

आजकल गंगाजीपर इतने आदमी नहीं पहुँचते, जितने कचहरीमें जाते हैं। जिसके मनमें यह भाव हो जायगा कि धन और मिट्टी समान हैं, वह कभी मुकदमा नहीं करेगा। और न कभी गवाही ही देगा।

आजकल तीन प्रकारके उपदेश होते हैं—'ब्रह्मचर्य मत रक्खो, (२) सन्तान पैदा मत करो, (३) भक्त और ईश्वरको मानना घोर पाप है। उन्नति तभी होगी जब ईश्वर और भक्तको नहीं मानोगे।' ऐसे उपदेशोंसे साधारण जगत्‌में जीव अपने पथसे गिर जाते हैं।

आजकल बहुत-से लोग कहते हैं कि स्त्रियोंको परदेमें रखना अन्याय है। परन्तु परदे और घरोंमें रहनेसे ही वे इन पाँच बातोंसे, जो उन्हें विषयोंमें ले जानेवाली हैं, बच सकती हैं।

(१) परपुरुषका दर्शन, (२) परपुरुषका चिन्तन, (३) परपुरुषका रूपवर्णन, (४) परपुरुषके साथ सम्भाषण और (५) परपुरुषका स्पर्श।

परदा इसीलिये रक्खा गया है। पुरुषोंको भी (१) स्त्री-दर्शन, (२) स्त्रीचिन्तन, (३) स्त्रियोंका सौन्दर्यवर्णन, (४) स्त्रियोंके साथ सम्भाषण और (५) स्त्रियोंका स्पर्श विषयोंमें ले जाता है। अतः उन्हें भी उनसे बचना चाहिये।

हमारे यहाँ पहले धर्म-पुस्तकोंकी पूजा हुआ करती थी। लेकिन आजकल लोग थूक लगा-लगाकर पन्ने उलटते हैं। जमाना कितना खराब आ गया। धर्म-पुस्तकको प्राणोंसे भी प्यारी समझो।

भोजनका बड़ा भारी असर पड़ता है। मुझे एक बार स्वामी मौजानन्दजी महाराज सुनाते थे कि एक बार मौजानन्दजी तथा और आठ-दस साधु घूम रहे थे। किसी गाँवके पास जाकर ठहर गये। उस गाँवके एक भक्तने सब महात्माओंको अपने घर ले जाकर

भोजन कराया। रातको सब महात्माओंको स्वप्नदोष हो गया। प्रातःकाल इसकी आपसमें चर्चा चली तो मालूम हुआ कि सभी महात्माओंको हुआ है। उन्होंने कहा यह क्या बात है। उस भोजन करानेवाले भक्तको बुलाया गया। उससे पूछा कि सच कहो तुमने हमें भोजन किस इच्छासे कराया था। उसने कहा कि महाराज, मेरे सन्तान नहीं होती थी। सन्तानकी इच्छासे भोजन कराया था।

जो लोग रातदिन पाप करते हैं वे जिन्दे ही मरे हुए हैं।

भारतवर्षमें तंबाकू क्या आया कलियुग ही आ गया। इससे बुरी संसारमें कोई चीज नहीं है। श्रीगुरुगोविन्दसिंहजीने इसे बहुत बुरा बताया है। इसका कभी सेवन न करना चाहिये।

आजकल कितने ही दण्डी स्वामी भी तंबाकू आदि पीने लगे हैं और अपने पास पैसे भी रखने लगे हैं। अगर कोई उनसे कहता है तो वे झटसे अपनेको वेदान्ती-ब्रह्मज्ञानी बतलाने लगते हैं और 'अहं ब्रह्मास्मि' कहने लगते हैं। यह कितना बुरा है! ये लोग औरोंको भी बिगाड़ते हैं। इनके शिष्य भी करते-धरते तो कुछ भी नहीं, सिर्फ 'अहं ब्रह्मास्मि' याद कर लेते हैं।

भैया! कोई ब्रह्मज्ञानी ही क्यों न बनता हो, अपनेको सिद्ध ही क्यों न कहता हो, यदि वह तंबाकू आदि मादक द्रव्योंका सेवन करता है और अपने पास पैसे रखता है तो मेरा मन उससे मिलनेको कभी नहीं चाहता और न मैं उससे मिलना अच्छा ही समझता हूँ।

आजकल शहरवालोंमें ऊपरी तो सफाई है, लेकिन मन मलिन है। मेरी रायमें तो इस तंवाकूने ही सब कुछ बिगाड़ रक्खा है। सनातनधर्मका नाश तो इसने ही किया है। ऐसा क्या सनातनधर्म कि जो एकके मुँहकी चिलम दूसरा मुँहमें लगा लेता है। फिर जूठका विचार ही क्या रहा? छूआछूत शास्त्रमें मान्य है। जो उसे मिटानेकी कोशिश करते हैं वे शास्त्रविरुद्ध करते हैं।

जो भगवान्‌का भक्त होगा वह वीड़ी, हुक्का, सिगरेट, सुल्फा, तंवाकू, भाँग आदि नशीली तमोगुणी वस्तु नहीं खाये-पीयेगा। क्योंकि भक्त जो कुछ भी खाये-पीयेगा, अपने भगवान्‌को अवश्य अर्पण करेगा, फिर भला भक्त ऐसी तमोगुणी शास्त्रविरुद्ध वस्तुओंको क्योंकर भगवान्‌के भोग लगावेगा?

यदि कोई धूम्रपान करता है तो मैं निश्चयपूर्वक कह सकता हूँ कि उसे मन्त्रसिद्धि कदापि नहीं हो सकती।

मैंने एक कपड़ेकी दूकानपर देखा एक आदमी गद्दीपर बैठे वीड़ी पी रहा था। बताओ इनके पास कैसे लक्ष्मी ठहर सकती है? जिस गद्दीको पहले गणेशजीकी गद्दी मानते थे, लक्ष्मीजीकी गद्दी मानते थे, उसपर बैठे हुक्का-बीड़ी पीते हैं। अगर पतंगा उड़कर गिर जाय तो कितना नुकसान हो। भारतवर्षके मनुष्य अब कैसे भ्रष्ट हो गये हैं।
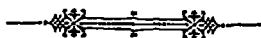
दैवी सम्पत्ति

ज्ञानी और भक्त दोनोंमें ही दैवी सम्पत्तिकी आवश्यकता है। दैवी सम्पत्ति बिना ज्ञान और कर्म दोनों ही व्यर्थ हैं। योगवासिष्ठमें एक ज्ञानी राक्षसीका वृत्तान्त है। वह ज्ञानी होते हुए भी बहुत-से जीवोंका भक्षण कर जाती थी। ऐसे ज्ञानसे क्या लाभ है? दैवी सम्पत्ति बिना न ज्ञान शोभा पाता है न भक्ति।* इसीलिये श्रीगीताजीमें कहा है—'दैवी सम्पद्विमोक्षाय।'

दैवी सम्पत्ति मुख्यतः चार बातोंमें आ जाती है—

(१) दया, (२) कोमलता, (३) बुरे कार्योंमें लज्जा और (४) मनकी चञ्चलताका नाश।

१. दयाका स्वरूप सबका कल्याण चाहना है—

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद्दुःखमाप्नुयात्॥

२. कठोर वचन या कठोर भाषण—इनका न होना कोमलता है। इससे लोभका नाश होता है।

---

* यथार्थ ज्ञान या भक्ति हो जानेपर दैवी सम्पत्ति आप ही आ जाती है।

३. बुरे कर्म होनेसे पूर्व यदि उन्हें करनेमें लज्जा होगी तो वह बुरे कर्म करनेसे बचा लेगी।

४. मन, वाणी और शरीरकी चञ्चलता दूर हुए बिना शान्ति, समता, ज्ञान, भक्ति आदि कुछ भी नहीं हो सकते।

दया, सत्य, शौच और आचार ये गुण जिसमें न हों वह तो असुर है।

विपत्तिमें हृदयको दृढ़ रखना चाहिये तथा धैर्य और साहस कभी न खोना चाहिये।

सा हानिस्तन्महच्छिद्रं सा चान्धजडमूढता।
यन्मुहूर्त्तं क्षणार्द्धं वा वासुदेवे न चिन्तनम्॥

राग और द्वेष इनमें विशेषरूपसे द्वेषकी निवृत्ति करनी चाहिये।

श्रीमद्भागवतके माहात्म्यमें ये दो श्लोक हैं—

देहेऽस्थिमांसरुधिरेऽभिमतिं त्यज त्वं
जायासुतादिषु सदा ममतां विमुञ्च।
पश्यानिशं जगदिदं क्षणभङ्गनिष्ठं
वैराग्यरागरसिको भव भक्तिनिष्ठः॥
धर्मं भजस्व सततं त्यज लोकधर्मान्
सेवस्व साधुपुरुषाञ्जहि कामतृष्णाम्।
अन्यस्य दोषगुणचिन्तनमाशु मुक्त्वा
सेवाकथारसमहो नितरां पिब त्वम्॥

अस्थि, मांस और रुधिरसे भरे हुए इस देहमें अभिमान

छोड़ दो, स्त्री-पुत्रादिकी ममताका सर्वथा त्याग कर दो। यह जगत् क्षणभंगुर है, ऐसा निरन्तर विचार करो, वैराग्यमें रसिक बनो और भक्तिनिष्ठ होओ। निरन्तर धर्मका सेवन करो, लौकिक (सांसारिक लोगोंके माने हुए) धर्मोंका त्याग कर दो, साधु पुरुषोंकी सेवा करो, विषयोंकी तृष्णाको त्याग दो। दूसरेके गुणदोषोंका विचार तुरन्त छोड़कर भगवत्-सेवा-कथा-रसका भरपेट पान करो।

हिंसा, परस्त्री, परधन और निन्दा—ये जिसके अन्दर नहीं हैं वही भगवान्‌को प्राप्त कर सकता है।

जो वाणी, मन, क्रोध, हिंसा, उदर और उपस्थके वेगको सहन कर ले वही दैवी सम्पत्तिवान् पुरुष है।

वाचो वेगं मनसः क्रोधवेगं
हिंसावेगमुदरोपस्थवेगम् ।
एतान्वेगान्सहते यस्तु विद्वान्
निन्दा चास्य हृदयं नोपहन्यात् ॥

सत्यवादी और निर्मम हो तो तुम्हारा कोई क्या बिगाड़ सकता है ?

हमें अपने धर्ममें तत्पर रहना चाहिये। संसार चाहे नित्य हो या अनित्य। धर्म नित्य है, धर्मका पालन करना चाहिये। हमें जो श्रुति, स्मृतिकी आज्ञा है, वही करना धर्म है और शास्त्र-विरुद्ध कर्म पाप है।

आजीवन ब्रह्मचर्यपालन करनेकी इच्छा करनेवाले व्यक्तिको यह दृढ़ प्रतिज्ञा कर लेनी चाहिये कि मैं आजीवन ब्रह्मचर्यका

पालन करूँगा। तथा उनको इन आठ साधनोंका पालन करना चाहिये (१) अष्ट प्रकारके मैथुनोंका सर्वथा त्याग। (२) स्त्रीका संकल्प ही न करे। (३) स्त्री या स्त्रीके चित्रका जहाँतक बने दर्शन ही न करे। (४) यदि भूलसे दृष्टि चली जाय तो एक बार दृष्टि पड़ते ही उधरसे दृष्टिको तत्काल हटा ले और दूसरी बार भूलकर भी उधर न देखे। (५) स्त्रीको भगवतीस्वरूप समझे। (६) स्त्रीसंगियोंका संग न करे। (७) एकान्तमें रहकर भी स्त्रीमात्रसे भाषण न करे। (८) पशु, पक्षी आदि जीवमात्रको मैथुन करते न देखे।

× × × ×

यदि किसीको विस्तारसे दैवी सम्पत्तिका वर्णन देखना हो या परमार्थसम्बन्धी उपयोगी बातें जाननी हों तो गीताप्रेस, गोरखपुरसे प्रकाशित 'साधनपथ' को विचारपूर्वक पढ़ना चाहिये। उस छोटी-सी पुस्तकमें बहुत कामकी बातें लिखी हैं। मैंने सैकड़ों लोगोंको यह पुस्तक पढ़नेके लिये कहा है।

× × × ×

महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम्॥*

जिसमें दैवी सम्पत्ति है वही भगवान्‌का भजन कर सकता है। बिना दैवी सम्पत्ति धारण किये भगवान्‌का यथार्थ भजन होना

---

* दैवी प्रकृतिका आश्रय लेनेवाले महात्मालोग मुझे समस्त भूतोंका अविनाशी कारण जानकर अनन्य चित्तसे मेरा भजन करते हैं।

बहुत कठिन है, अतएव भजनके साथ-साथ दैवी सम्पत्तिको धारण करनेकी अत्यन्त आवश्यकता है। भगवान्‌का प्रभाव जानकर अनन्य मनसे भजन करना चाहिये। गोपियाँ भी इसी प्रकारसे भजन किया करती थीं। उन्होंने कहा है—

न खलु गोपिकानन्दनो भवा-
नखिलदेहिनामन्तरात्मदृक्।
विखनसार्थितो विश्वगुप्तये
सख उदेयिवान्सात्वतां कुले॥

(श्रीमद्भा० १०। ३१। ४)

हे भगवन्! आप केवल यशोदानन्दन ही नहीं हैं, किन्तु सम्पूर्ण विश्वके अन्तरात्मा हैं। सखे! आप अरण्यवासी मुनियोंकी प्रार्थनाके अनुसार विश्वकी रक्षाके लिये ही यादववंशमें अवतीर्ण हुए हैं।

इसका दूसरा अर्थ यह भी है कि आप गोपिकानन्दन नहीं हैं। यदि आप गोपिकानन्दन होते तो आपको दया जरूर आती, क्योंकि यशोदाजी बड़ी दयालु हैं और आप तो निर्दयीकी तरह हमें बड़ा कष्ट दे रहे हैं। आप सम्पूर्ण प्राणियोंके अन्तर्द्रष्टा भी नहीं हैं। यदि अन्तर्द्रष्टा होते तो हमारे हृदयकी वेदना देखकर जरूर प्रकट हो जाते।